किंतु जहां अज्ञानके पट पर । अन्यथा ज्ञानका चित्र उठाकर ।
दिखानेमें प्रसिद्ध धनुर्धर । त्रिपुटी जो अन्य ॥ ४६० ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

कर्म-प्रवृत्तिके बीजोंका विस्तृत विवेचन—

जो है ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय । जगके ये बीज त्रय ।
कर्मकी ये निःसंशय । प्रवृत्ति जो ॥ ६१ ॥

अब जो यह है तीन । विषय हैं भिन्न भिन्न ।
उनका करें वर्णन । स्पष्ट रूपसे ॥ ६२ ॥

जैसे जीव सूर्य-बिंबका । रश्मिजाल जो श्रोत्रादिका ।
खिलाते विषय पद्मका । मुकुल-वृंद ॥ ६३ ॥

जीव नृपका घोड़ा खुला हुवा । इंद्रियोंका समूह लिया हुवा ।
विषय देश लूटता पांडवा । सुखदुःखादिक ॥ ६४ ॥

इन इंद्रियोंसे कराता व्यापार । सुखदुःखानुभव देता लाकर ।
सुषुप्ति कालमें जो लीन होकर । रहता है ज्ञान ॥ ६५ ॥

उस जीवको कहते ज्ञाता । इसको मैं अब जो कहता ।
पहले छंदमें जो कहा था । वह है ज्ञान ॥ ६६ ॥

अविद्याके उदरमें । उपजते समयमें ।
कर देता जो आपमें । तीन भाग ॥ ६७ ॥

फिर अपनी दौडके सम्मुख । बांध डालते ज्ञेय विषयक ।
पीछेका भाग जो है ज्ञातृत्वका । उठा देता है ॥ ६८ ॥

ज्ञाता ज्ञेयके मध्यमें फिर । ज्ञानके रहनेका प्रकार ।
जिससे दोनोंका व्यवहार । चलता रहता है ॥ ६९ ॥

ज्ञाता ज्ञेय तथा कर्म तिहरा कर्म-बीज है ।
क्रिया कारण कर्तृत्व तीन कर्मांग है उसे ॥ १८ ॥

आते ही ज्ञेयका सीमा-स्थान । जिसकी दौड सकती जान ।
तभी सभी वस्तुको अर्जुन । देता है नाम ॥ ४७० ॥

कहाता यह सामान्य ज्ञान । इसमें अन्यथा नहीं जान ।
सुन तू ज्ञेयका अब लक्षण । मुझसे अब ॥ ७१ ॥

अजी ! शब्द स्पर्श । रूप गंध रस ।
ये पांच आभास । ज्ञेयके हैं ॥ ७२ ॥

एक ही अमृत फल जैसे । इंद्रियोंको भिन्न रूपसे ।
रस वर्ण गंध स्पर्शसे । मिलता है ॥ ७३ ॥

ऐसे ज्ञेय है एकसर । किंतु ज्ञान इंद्रिय द्वारा ।
लेता तब होते प्रकार । यहां पांच ॥ ७४ ॥

प्रवाहका जैसे समुद्रमें जाना । रुकना पड़ावके आनेपे चलना ।
भुट्टा आने पर बढ़ना रुकना । सत्यका पार्थ ॥ ७५ ॥

इंद्रियोंसे ऐसे जो दौडता । वह ज्ञान जहां है रुकता ।
उसीको है ज्ञेय कहा जाता । धनुर्धर यहां ॥ ७६ ॥

ऐसे हैं ये ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय । तीन रूप हुए धनंजय ।
यह सब है त्रिविध क्रिया । प्रवृत्तिकी जान ॥ ७७ ॥

जो है शब्दादि विषय । यह पंचविध ज्ञेय ।
वही है प्रिय अप्रिय । एक प्रकारसे ॥ ७८ ॥

ज्ञाताको जिस समय ज्ञान । करता है अल्पसा दर्शन ।
स्वीकार या तजनेमें अर्जुन । होता प्रवृत्त ॥ ७९ ॥

किंतु जैसे मीन देख बक । तथा निदान देखके रंक ।
अथवा स्त्रीको देख कामुक । होता प्रवृत्त ॥ ४८० ॥

अथवा उतार पर नीर । परिमल पर है भ्रमर ।
या गायके पास धनुर्धर । दौडता बछडा ॥ ८१ ॥

स्वर्गकी उर्वशीका विषय । सुनकर जैसे धनंजय ।
नभमें सीढी लगाता मनुष्य । यज्ञ यागकी ॥ ८२ ॥

आकाशमें उड़ता कबूतर । कबूतरीको वहां देखकर ।
छोड़ता अपना सारा शरीर । उसपे जैसे ॥ ८३ ॥

अथवा सुनकर मेघ गर्जन । मयूर उडना चाहता गगन ।
वैसे ही ज्ञेय देखकर अर्जुन । दौडता ज्ञाता ॥ ८४ ॥

इसीलिये ज्ञान ज्ञेय ज्ञाता । विविध हैं जो पांडुसुता ।
होते हैं यहां कर्मको समस्त । प्रवृत्त सदैव ॥ ८५ ॥

होता है यदि ज्ञेय प्रिय । ज्ञाताको वह धनंजय ।
भोगमें न खोता समय । क्षणका भी वह ॥ ८६ ॥

तथा होता यदि अप्रिय । तजता सबका समय ।
आया जैसे जग-प्रलय । मानता वह ॥ ८७ ॥

व्याल है अथवा हार । इस संशयमें नर ।
हर्षसे डालता कर । औ' कांप उठता ॥ ८८ ॥

ऐसे है ज्ञेयका प्रियाप्रिय । देख होता ज्ञाता धनंजय ।
स्वीकार या तजते समय । होता है प्रवृत्त ॥ ८९ ॥

अनुरागी जो प्रतिमल्लका । सेनापति संपूर्ण सैन्यका ।
आता है त्याग कर रथका । भूमि पर जैसे ॥ ९० ॥

वैसे ज्ञातापनसे जो होता । वह कर्तापनमें है आता ।
नितही जो अनायास खाता । बैठता रसोईमें ॥ ९१ ॥

या भ्रमका ऐसे बाग लगाता । स्वर्णकारही कसौटी बनता ।
या भगवंत ही है राज बनता । घड़ने मंदिर ॥ ९२ ॥

ज्ञेयकी लालसा धर ऐसे । ज्ञाता कराता है इंद्रियोंसे ।
व्यवहार सभी प्रकारसे । होकर कर्ता ॥ ९३ ॥

तथा स्वयं आप होकर कर्ता । ज्ञानमें लाता जब सधनता ।
वहां ज्ञेयही होता स्वभावता । कार्य धनंजय ॥ ९४ ॥

ज्ञानकी ऐसी निजगति । पलटती जो इस भांति ।
रात्रिमें जैसे नेत्र-कांति । पलटती है ॥ ९५ ॥

अथवा होता जब दैव उदास । उतरता है श्रीमंतका विलास ।
पूर्णिमाके नंतर जैसे चंद्रांश । उतरता आता ॥ ९६ ॥

वैसे इस चेष्टाके कारण । ज्ञाताको घिरता कर्तापन ।
वहांके जो उसके लक्षण । सुन तू अब ॥ ९७ ॥

अंतःकरणका विवेचन—

यहां बुद्धि और मन । चित्त अहंकार जान ।
ये हैं चतुर्विध चिन्ह । अंतःकरणके ॥ ९८ ॥

बाहर त्वचा और श्रवण । नयन रसना और घ्राण ।
ये हैं जो पंच-विध अर्जुन । ज्ञानकी इंद्रिया ॥ ९९ ॥

तब जो कर्ता जीव अर्जुन । ले अंतःकरणके साधन ।
करके कर्मका विचारण । यदि वह सुख हो ॥ ५०० ॥

जगा करके तब बाह्य । चक्षुरादि दस इंद्रिय ।
कर्ममें वह धनंजय । लगाता त्वरित ॥ १ ॥

फिर वह इंद्रिय कदंब । लगा देता है कर्ममें सब ।
जब तक कर्म-फल लाभ । हाथ न आता ॥ २ ॥

या किसी कर्तव्यमें सुख । फलेगा वह नहीं देख ।
कर देता है पराङ्मुख । इंद्रियोंको वह ॥ ३ ॥

जब तक लगान नहीं मिलता । राजा किसानको काममें जुताता ।
वैसे दुखका नाम भी न मिटता । जोतता इंद्रियोंको ॥ ४ ॥

कर्ता कारण और कर्म—

ऐसे त्याग और स्वीकार । इंद्रियोंकी धुराको धर ।
करता उसे धनुर्धर । कहते हैं कर्ता ॥ ५ ॥

तथा कर्ताके सभी काम । करते जो स-परिश्रम ।
उन इंद्रियोंको हम । कहते हैं कारण ॥ ६ ॥

इन्ही कारणों पर जो कर्ता । सभी क्रियाओंको उभारता ।
उन क्रियाओंसे जो घिरता । वह है कर्म ॥ ७ ॥

सुनारकी बुद्धिसे जैसे आभूषण । घिरते चंद्रको जैसे चंद्रकिरण ।
तथा विलासतासे लता वृक्षगण । घेरते जैसे ॥ ८ ॥

या नाना प्रभा जैसे प्रकाश । या मधुरतासे इक्षु-रस ।
या आकाश जैसे अवकाश । घिरा रहता है ॥ ९ ॥
वैसे कर्ताकी सभी क्रिया । व्याप लेती है धनंजया ।
उसको कर्म नाम दिया । अन्यको नहीं ॥ ५१० ॥
ऐसे कर्ता कर्म कारण । इन तीनोंके जो लक्षण ।
कहे हैं तुझसे अर्जुन । चातुर्यनिधि ॥ ११ ॥
यहां ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय । ये हैं कर्मके प्रवृत्तित्रय ।
वैसे ही कर्ता कारण कार्य । कर्म संचय यह ॥ १२ ॥
अग्निमें रखा जैसे धूम । तथा बीजमें जैसे द्रुम ।
वैसे मनसे जुडा काम । सदैवही ॥ १३ ॥
वैसे कर्म क्रिया कारण । कर्मका रहा है जीवन ।
जैसे सुवर्ण ही जीवन । स्वर्णमात्रका ॥ १४ ॥
इसीलिये यह कार्य मैं कर्ता । ऐसे भाव यहां है पांडुसुता ।
वहां भी आत्मा दूरही रहता । सभी क्रियाओंसे ॥ १५ ॥
इसीलिये जान तू अर्जुन । आत्मा रहता कर्मसे भिन्न ।
जाने दे अब यह कथन । सुनेगा कितना तू ॥ १६ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

ज्ञान कर्म कर्ता भी त्रिगुणसे घिरे हैं—

किंतु कहा जो ज्ञान । कर्म कर्ता ये तीन ।
इनमें गुण तीन । भिन्न हैं जो ॥ १७ ॥
इसलिये ज्ञान कर्म कर्ता । इसी पर न भूलना पार्था ।
एक है जो छुटकारा देता । और दो बंधन ॥ १८ ॥

ज्ञान औ' कर्म कर्तामें तीन भेद त्रिगुणसे ।
रचे हैं सुन तू कैसे गुण तत्वज्ञने कहे ॥ १९ ॥

वह सात्विक तुझसे ज्ञात । इसलिये त्रिगुणकी बात ।
सांख्य शास्त्रमें जो है कथित । कहता हूं तुझे ॥ १९ ॥

वह विचार क्षीर समुद्र । स्वबोध कुमुदिनीका चंद्र ।
ज्ञान - जागृतोंका जो नरेंद्र । शास्त्रोंका है ॥ ५२० ॥

अथवा प्रकृति पुरुष ये दोन । घुल गये जैसे रात और दिन ।
त्रिभुवनमें उसे दिखाता कर भिन्न । मार्तंड जैसे ॥ २१ ॥

जहां मोहरात्री है अपार । चोवीस तत्त्वोंसे गिनकर ।
निरास करके धनुर्धर । रहे सुखसे ॥ २२ ॥

अर्जुन ! यह सांख्यशास्त्र । पढते हैं जिसके स्तोत्र ।
वह गुण भेद चरित्र । है इस भांति ॥ २३ ॥

अपने ही गुण भेदसे । त्रिविधपनकी मुद्रासे ।
विश्वमें जो दृश्य है उसे । किया मुद्रित ॥ २४ ॥

सत्व रज तम हैं ऐसे । तीनोंकी महिमा भी ऐसे ।
विविध जो आदि ब्रह्मासे । अंतमें है कृमितक ॥ २५ ॥

किंतु है विश्वके सभी समुदाय । जिसके भेदसे भेदते समय ।
उस ज्ञानका कैसे हुवा उदय । पहले उसे कहता ॥ २६ ॥

दृष्टिको जब शुद्ध किया जाता । तब सभी है शुद्ध ही दीखता ।
वैसे ही जब ज्ञान शुद्ध होता । सब है शुद्ध ॥ २७ ॥

इसीलिये वह सात्विक ज्ञान । कहता हूं उसको अब सुन ।
ऐसे हैं कैवल्य गुण निधान । श्रीकृष्ण कहता ॥ २८ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

अब कहता मैं तुझसे अर्जुन । शुद्ध जो वास्तविक सात्विक ज्ञान ।
उदयसे नाश करता है जान । ज्ञेय सह ज्ञानको ॥ २९ ॥

जो देखे भूत मात्रोंमें भाव एक सनातन ।
अभिन्न भेदमें देख जान जो ज्ञान सात्विक ॥ २० ॥

सात्त्विक ज्ञानका विवेचन—

न देखता जैसे सूर्य अंधार । सरिता नहीं जानती सागर ।
आत्म-छाया न आती धनुर्धर । आलिंगनमें कभी ॥ ५३० ॥

इस भांति है जो ज्ञान । शिवादि गणावसान ।
इसे भूत व्यक्ति भिन्न । नहीं दीखता ॥ ३१ ॥

हाथसे चित्र देखनेसे । या नून पानीमें धोनेसे ।
या स्वप्न जैसे जगनेसे । नहीं दीखता ॥ ३२ ॥

इस प्रकार है जिस ज्ञानसे । ज्ञातव्य जाननेके प्रयाससे ।
ज्ञाता जानना या जानता ऐसे । नहीं रहता कुछ ॥ ३३ ॥

जैसे भूषण गलाके स्वर्ण । नहीं निकालते बुद्धिमान ।
तथा तरंग छान अर्जुन । नहीं लेते नीर ॥ ३४ ॥

जैसे ज्ञानके हाथमें पार्था । नहीं लगती है दृश्य-कथा ।
वह ज्ञान जान तू सर्वथा । सात्विक ज्ञान ॥ ३५ ॥

सहज देखनेसे जैसे दर्पण । आप देता प्रतिबिंब हो दर्शन ।
वैसे ज्ञेय दूर हो ज्ञाता अर्जुन । देता अनुभव ॥ ३६ ॥

ऐसा है जो सात्त्विक ज्ञान । मोक्ष-लक्ष्मीका है सदन ।
अब तू राजसका सुन । लक्षण पार्थ ॥ ३७ ॥

पृथक्त्वेन तु तज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विधि राजसम् ॥ २१ ॥

राजस ज्ञानका विवेचन—

तभी यह जो ज्ञान अर्जुन । घूमता विधि-वस्तुसे हीन ।
श्रुतिने उसे मानके नग्न । किया अनादर ॥ ३८ ॥

भूतोंकी विचित्रताके कारण । स्वयं आप होकर छिन्न भिन्न ।
उस भेदसे ज्ञानीको अर्जुन । किया भ्रमिष्ट ॥ ३९ ॥

पोसके भेद बुद्धीको देखता भूतमात्रमें ।
विभिन्न भाव जो ज्ञान वह राजस जान तू ॥ २१ ॥

जैसे है सच्चे रूप पर । लगाके विस्मयका द्वार ।
फिर वह स्वप्नका भार । होता निद्रामें ॥ ५४० ॥
वैसे स्व-ज्ञान सीमाके बाहर । असार संसार पंजर पर ।
तीन अवस्थाओंके धनुर्धर । दिखाता खेल ॥ ४१ ॥
अलंकार रूपमें ढका स्वर्ण । बालक नहीं समझता स्वर्ण ।
नाम-रूपसे दूर गया मान । अद्वैत जिससे ॥ ४२ ॥
भांडोंके रूपमें आकर । मृत्तिका गयी छिपकर ।
अथवा दीप बनकर । अग्नि हुवा दुर्बोध ॥ ४३ ॥
अथवा वस्त्रके रूपमें जैसे । मूर्खको तंतु खो जाते वैसे ।
अथवा चित्रका रूप लेनेसे । खो जाता वस्त्र ॥ ४४ ॥
उसी प्रकार है जो ज्ञान । जानता भूतमात्र भिन्न ।
तथा ऐसा बोध कल्पना । भूलही गया ॥ ४५ ॥
इंधनसे भेदा गया अनल । तथा फूलोंसे मानो परिमल ।
अथवा जलभेदमें सकल । भिन्न हुवा चंद्र ॥ ४६ ॥
तथा वस्तुके नाना प्रकार । देखके छोटे बडे आकार ।
अनेकत्व देखता अंतर । राजस ज्ञान ॥ ४७ ॥
कहता अब तमका लक्षण । कराता हूं उसकी पहचान ।
तम जैसे चांडालका स्थान । दिखा रखता ॥ ४८ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

तामसिक ज्ञानका विवेचन—

तब है जो ज्ञान अर्जुन । धूमता विधि-वस्त्र हीन ।
श्रुति पराङ्मुख है नग्न । इसी लिये उसे ॥ ४९ ॥

देहको मान सर्वस्व व्यर्थ ही उलझा रहा ।
भावार्थ हीन जो क्षुद्र ज्ञान है जान तामस ॥ २२ ॥

अन्य शास्त्र जो श्रुत्यागम रत । तामस ज्ञानको मानके निंदित ।
भगा दिया है पर्वत पर पार्थ । म्लेंछ-धर्मके ॥ ५५० ॥

अजी ! जो ज्ञान है ऐसा । गुण ग्रहण तामस ।
पागल होकर जैसा । भटकता है ॥ ५१ ॥

नात-गोतकी बाधा न जानता । किसीको निषिद्ध नहीं मानता ।
मानो खंडहरमें बसा कुत्ता । रहता जैसे ॥ ५२ ॥

उसके मुखमें जो नहीं आता । अथवा खानेसे मुख जलता ।
ऐसे वस्तुमात्र वह तजता । खाता है सब और ॥ ५३ ॥

सोना चुराते हुए चूवा । भला बुरा न कहता पांडव ।
न कहता मांसाहारमें जीव । काला या गोरा ॥ ५४ ॥

या जलती जब आग वनमें । भला बुरा न सोचती मनमें ।
न सोचे माखी जैसे बैठनेमें । मरा या जिया है ॥ ५५ ॥

परोसा हुवा है या वमन । अथवा ताजा या वासी अन्न ।
जैसे यह भी कागका मन । नहीं जानता वैसे ॥ ५६ ॥

निशिद्धको है तजना । विधिको सदा पालना ।
इस विषयका ज्ञान । न रहता उसे ॥ ५७ ॥

आंखोंके सामने जो जो आता । वह भोग्य हेतु ही मानता ।
जो कुछ स्त्री द्रव्य है मिलता । देता शिरस्त्र देवको ॥ ५८ ॥

न तीर्थातीर्थका कुछ ज्ञान । पानीकी न कोई पहचान ।
प्यासका मुख इसके विन । न जानता कुछ ॥ ५९ ॥

वैसे ही वह खाद्याखाद्य । न जानता निंद्य-अनिंद्य ।
जीभको भाता वही योग्य । वह मानता है ॥ ५६० ॥

मानता स्त्री--जात सकल । भोग्य वस्तु ही है केवल ।
इस विषयमें केवल । यही बोध ॥ ६१ ॥

स्वार्थमें जो जब काम आता । वही उसका आप्त बनता ।
अन्य संबंध नहीं जानता । वह कभी कोई ॥ ६२ ॥

सभी होता है मृत्युका अन्न । तथा होता आगका ईंधन ।
वैसे ही होता विश्वका धन । तामस ज्ञानीको ॥ ६३ ॥

वैसे ही विश्व सकल । विषय जाना केवल ।
इसका एक ही फल । देह-पूजन ॥ ६४ ॥

आकाशसे गिरा हुआ नीर । समुद्रही उसका आधार ।
वैसे है सभी काज उदर- । पूर्तिके लिये ॥ ६५ ॥

इसे छोड स्वर्ग नर्ककी बात । तथा क्या विहित या अविहित ।
इस विषयमें है काली रात । जिसको सदैव ॥ ६६ ॥

जिसे देह-खंडका नाम आत्मा । ईश्वर है पाषाणकी प्रतिमा ।
न उसे इसके परेकी प्रमा । छूती भी कभी ॥ ६७ ॥

इसलिये जब शरीर गिरता । कर्म सह आत्मा भी है मिटता ।
तब भोगनेके लिये रहता । किस रूपसे कौन ॥ ६८ ॥

यदि कोई ईश्वर है कहता । वह कर्मका फल भी है देता ।
तब वह ईश्वरको खा जाता । बेच करके ॥ ६९ ॥

गावोंके जो ये देवालयेश्वर । सच्चे नियामक तो धनुर्धर ।
तब देशके ये बडे डोंगर । चुप क्यों रहते हैं ॥ ५७० ॥

यदि वह ईश्वरको मानता । इस भांति पाषाण ही मानता ।
आत्माको वह केवल जानता । शरीर मात्र ॥ ७१ ॥

अन्य जो पाप-पुण्यादिक । मानता भ्रम-मात्र एक ।
मिले सो भोगनेमें सुख । मानता अग्निसा ॥ ७२ ॥

चर्म-चक्षु जो कुछ दिखाता । इंद्रियां दिखाती मधुरता ।
उसीको सब कुछ मानता । सत्य अनुभव ॥ ७३ ॥

अथवा जहां ऐसी प्रथा । बढती देखता तू पार्था ।
बढ़ती गगनमें वृथा । धूम-लता जैसे ॥ ७४ ॥

गीला अथवा सूखा हुवा । व्यर्थ ही जाता है पांडवा ।
बढ़कर टूटता हुवा । गजदंड जैसा ॥ ७५ ॥

जैसे ईखका बुट्टा होता । या जैसे हिजड़ा रहता ।
या जैसे वन है लगता । सेमलका जो ॥ ७६ ॥

अथवा बालकका मन । या चोरके घरका धन ।
अथवा जैसे गल-स्तन । बकरेके जैसे ॥ ७७ ॥

ऐसे जो अर्थ हीन । तथा स्वैर अर्जुन ।
उसे तामस ज्ञान । कहता हूं मैं ॥ ७८ ॥

ऐसे तामस ज्ञानको भी ज्ञान । कहते इसका भाव अर्जुन ।
कहते हैं जन्मांधके नयन । बडे विशाल जैसे ॥ ७९ ॥

अथवा बहरेके खडे कान । या अपेयको कहते हैं पान ।
वैसे कुल नाम उसका ज्ञान । इतना ही ॥ ५८० ॥

जाने दे कितना बोलना । ऐसी बातको कभी ज्ञान ।
न कहना उसे जानना । तामस मात्र ॥ ८१ ॥

गुणमें कहे ऐसे तीन । भेद कर यथा लक्षण ।
ऐसा श्रोता श्रेष्ठ अर्जुन । कहां है तुझसे ॥ ८२ ॥

ऐसे तीन प्रकार । ज्ञानके जो धनुर्धर ।
दीप्तिमें होगी गोचर । कर्ताकी क्रियाकी ॥ ८३ ॥

जैसे है बहता हुवा नीर । लेके जाता पात्रका आधार ।
उसी प्रकार लेता आकार । उसी भांतिका ॥ ८४ ॥

ज्ञान-त्रयके कारण । त्रिविध कर्म अर्जुन ।
होता है सात्विक सुन । कहता पहले ॥ ८५ ॥

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

सात्विक कर्मका लक्षण—

स्वाधिकारानुसार जो आता । उसीमें वह संतोष पाता ।
पति-व्रतालिंगनसे पाता । पति जैसे ॥ ८६ ॥

जैसे सांवले रंगमें चंदन । प्रमदाकी आंखोंमें अंजन ।
वैसे स्वाधिकारका भूषण । नित्यकर्म ॥ ८७ ॥

निर्दिष्ट और निष्काम तजके राग-द्वेषको ।
किया असंग वृत्तीसे वह है कर्म सात्विक ॥ २३ ॥

नित्य-कर्म जो है भला भला। नैमित्तिकका जोड़ भी मिला।
मानो सोनेसे सुहाग मिला। ऐसी है शोभा ॥ ८८ ॥

तन मनका सार सर्वस। दे कर बढाती स-संतोष।
माता बालकको पाल पोस। बिन उकताये ॥ ८९ ॥

जीव भावसे ऐसे कर्मानुष्ठान। कर भी न जाते फलपे नयन।
करता है उस कर्मका अर्पण। केवल ब्रह्ममें ॥ ५९० ॥

प्रियाराधनमें जैसे सहज भाव। नहीं रहता कम अधिकका भाव।
ऐसे सत्प्रसंगमें रहता पांडव। नित्य-कर्म ॥ ९१ ॥

तब न होता अकारण खेद। उद्वेगसे जीवको न दें बांध।
अथवा होनेसे मान आनंद। उछलता कभी ॥ ९२ ॥

ऐसे कुशलता पूर्वक। किया जाता है कर्म नेक।
कहते हैं उसे सात्विक। कर्म पांडव ॥ ९३ ॥

इस पर राजसका सुन। कहता हूं मैं सही लक्षण।
अपना चित्त देके अर्जुन। सुन तू यह ॥ ९४ ॥

यत् तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

राजस कर्मका लक्षण—

धनमें जैसे कोई माता पितासे। न बोलता व्यवहारमें ठीकसे।
किंतु चलता विश्वमें आदरसे। महामूर्ख ॥ ९५ ॥

या जड़में न दें तुलसीके। दूरसे देता बूंद पानीके।
किंतु सींचता नित द्राक्षके। मूलमें दूध ॥ ९६ ॥

वैसे हैं जो नित्य नैमित्तिक। कर्म करना जो आवश्यक।
उसके विषयमें जो देख। उठता भी नहीं ॥ ९७ ॥

सकाम और सायास साहंकारेण वा पुनः।
किया जाता वही सारा कहाता कर्म राजस। २४ ॥

अब कार्यक्रममें तन मन । दानादि देकर भी संपूर्ण ।
न जानता है कुछ भी अर्जुन । दिया अधिक ॥ ९८ ॥

ब्योढे सूदमें जब लगाता । तब देनेमें तृप्त न होता ।
या खेतमें जब बीज बोता । न कहता रुको अब ॥ ९९ ॥

पारस हाथमें आता अर्जुन । तब जैसे लोह लेनेमें धन ।
खर्च करनमें सोत्साह मन । उछलता जैसे ॥ ६०० ॥

वैसे फल देखकर सम्मुख । कर्म करता उत्साह पूर्वक ।
करता सो कम मान अधिक- । अधिक करता जाता ॥ १ ॥

ऐसे फल कामुकसे । होते हैं यथाविधिसे ।
काम्य-कर्म अधिकसे । होते अधिक ॥ २ ॥

तथा उस काम्य-कर्मका । पीटता ढिंढोरा सदाका ।
नाम-पाठसे है कर्मका । करता भोज्य ॥ ३ ॥

इससे बढ़ता कर्माहंकार । न जानता पिता या गुरु फिर ।
जैसे नहीं मानता काल-ज्वर । कोई औषध ॥ ४ ॥

ऐसे है स-अहंकार । फलाभिलाषासे नर ।
करता है स-आदर । जो जो कुछ ॥ ५ ॥

तथा इस करनेमें भी जैसा । मदारीका व्यवसाय हो ऐसा ।
करता है जो अतीव सायास । जीविकाही जान ॥ ६ ॥

एक दानेके लिये उंदुर । खोदता जाता सभी डोंगर ।
या सेवारके लिये दुर्दर । मथता समुद्र ॥ ७ ॥

भीखके परे कुछ न मिलता । फिर भी सपेरा साप ढोता ।
किसीको कष्ट भी अच्छा लगता । इसको करें क्या ॥ ८ ॥

देखके परमाणुका भी लाभ । दीमक खोदती पृथ्वीका गर्भ ।
वैसे धर स्वर्ग-सुखका लोभ । करते कष्ट ॥ ९ ॥

यह काम्य-कर्म सक्लेस । जानना है यहां राजस ।
कहता लक्षण तामस । सुन तू अब ॥ ६१० ॥

अनुबंधं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

तामस कर्मका लक्षण—

वह जो तामस कर्म । निंदाका है काला धाम ।
निषिद्ध कर्मका जन्म । हुवा हो सफल ॥ ११ ॥

वह जब संपन्न होता । दृष्टिमें कुछ भी न आता ।
जैसे पानीपे लिया जाता । रेखा चित्र ॥ १२ ॥

किया हो जैसे छासका मंथन । अग्निके लिये राख फूंकी मान ।
या कोल्हूमें रेती पेरी अर्जुन । उसी प्रकार ॥ १३ ॥

पवनपे भूसा धरना । तीरसे गगन छेदना ।
पवनको फांस डालना । बांधानेके लिये ॥ १४ ॥

जैसे यह सकल । नासता है निष्फल ।
वैसे होता सकल । तामस कर्म ॥ १५ ॥

वैसे नरदेहके समान । व्यय होता है व्यर्थ ही धन ।
नासता कार्यके साथ जान । विश्वका सुख ॥ १६ ॥

कमल वनपे कांटेका फांस । खींचनेसे होता घिसके नाश ।
तथा करना वनका विध्वंस । पांडु कुमार ॥ १७ ॥

जैसे अपना तन जलाता । लोगोंको अंधेरेमें डालता ।
द्वेषसे दीपपे झेंप लेता । जैसे पतंग ॥ १८ ॥

वैसे सर्वस्व हो व्यर्थ । देह पर हो आघात ।
तथा होते अन्य त्रस्त । जिस कार्यसे ॥ १९ ॥

माखी अपनेको निगलाती । दूसरोंको वमन कराती ।
स्मरण दिलाती ऐसी कृति । तामस कर्म ॥ ६२० ॥

विनाश व्यय निष्पत्ति सामर्थ्य भी न देखके ।
मोहसे जो किया जाता कर्म तामस जान तू ॥ २५ ॥

अपना सामर्थ्य न देखता । आगेका विचार न करता ।
मनमें जो आता सो करता । न देखता कुछ ॥ २१ ॥

मेरा सामर्थ्य कितना । कर्मकी कैसी है घटना ।
करने पर है क्या होना । सोचता नहीं ॥ २२ ॥

इस भांतिसे सब जो विचार । अविवेक पगसे पोंछकर ।
उद्यत होता है स-अहंकार । कर्ममें वह ॥ २३ ॥

अपना ही आसरा जलाकर । भड़कता है अग्नि भयंकर ।
या मर्यादा भंग कर सागर । उमड पड़ता ॥ २४ ॥

तब कम अधिक न जानता । आगे पीछे कुछ भी न देखता ।
पथ कुपथ भी एक करता । तामस कर्म ॥ २५ ॥

कृत्याकृत्य ऐसा कुछ लेकर । आप पर विचार भी न कर ।
होता है जो कर्म धनुर्धर । निश्चय ही तामस ॥ २६ ॥

ऐसे गुणत्रय भिन्न । कर्मकी स्थिति अर्जुन ।
यह किया विवेचन । कारणों सह ॥ २७ ॥

अब इन कर्मोंको जो करता । कर्मोंके अभिमानसे जो कर्ता ।
वह जीव भी कैसे त्रिविधता । पाता है देख ॥ २८ ॥

जैसे होके चतुर्थाश्रमवश । चतुर्धा दीखता एक पुरुष ।
कर्ता दीखता कर्मभेद वश । तीन प्रकारका ॥ २९ ॥

तीनमें अब मैं पार्थ । सात्विक तुझे प्रस्तुत ।
करता हो दत्त चित्त । सुन तू इसे ॥ ६३० ॥

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिध्यसिध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ॥ २६ ॥

निःसंग निरहंकारी उत्साही धैर्यसे भरा ।
फले जले अविकारी कर्ता सात्विक है कहा ॥ २६ ॥

सात्विक कर्ताके लक्षण—

छोडकर फलोद्देश । जैसे बढ़ जाती शाख ।
चंदनका जो विशेष । कहाता बावनी ॥ ३१ ॥

या फल बिना ही जो सार्थक । होती है जैसे नाग लतिका ।
वैसे करता है नित्यादिक । कर्म सदैव ॥ ३२ ॥

उनमें नहीं फल-शून्यता । अथवा नहीं है विफलता ।
फलके भी फल पांडुसुता । होते हैं क्या ॥ ३३ ॥

आदर-पूर्वक सब करता । किंतु किया ऐसा न कहता ।
वर्षाकालमें नहीं गर्जता । बादल जैसे ॥ ३४ ॥

वैसे परमात्म-प्रीत्यर्थ । समर्पणमें जो उचित ।
कर्म-समुदाय है पार्थ । करनेमें उत्पन्न ॥ ३५ ॥

कालका उल्लंघन नहीं करता । शुद्ध स्थलका विचार भी रखता ।
तथा शास्त्र-दृष्टिसे भी देखता । कार्य निर्णय ॥ ३६ ॥

वृत्तिको सदा एकाग्र रखता । चित्तको फलसे दूर रखता ।
नियमोंका बंधन भी पालता । शास्त्रोक्त जो ॥ ३७ ॥

इस निरोधको सहनेमें । सर्वोत्कृष्ट धैर्यको मनमें ।
रखनेका सद् चिंतनमें । रहता है नित ॥ ३८ ॥

तथा आत्म-प्रेमसे विहित । कर्म करनेमें जो सतत ।
देह-सुखकी चिंता किंचित । करता नहीं ॥ ३९ ॥

निद्रासे सदा दूर रहता । भूखको भी नहीं जानता ।
देह-सुख नहीं मिलता । उसको कभी ॥ ६४० ॥

सोना जैसे आगमें तपता । भार घट कसमें चढ़ता ।
वैसे उत्साह बढ़ता जाता । कर्ममें उसका ॥ ४१ ॥

पति पर प्रेम हो तो सच । सतीको जीनेमें हो संकोच ।
चितामें जलनेमें रोमांच । होते पतीसह ॥ ४२ ॥

प्रिय हो आत्माके समान । उसके लिये क्या अर्जुन ।
देहको दुःख होता मान । होगा क्या क्लेश ॥ ४३ ॥

विषय-सुख जैसे टूटता जाता । देह तथा बुद्धिका लय हो जाता ।
कर्ममें ही आनंद बढ़ता जाता । उसको सदैव ॥ ४४ ॥

ऐसा जब कर्म करता । कोई समय ऐसा आता ।
कर्म करना भी रुकता । उस समय ॥ ४५ ॥

कगार परसे जब गिरता रथ । टूटेगा मान सकुचाता नहीं पार्थ ।
वैसे मनमें नहीं होता संकुचित । किंचित भी वह ॥ ४६ ॥

अथवा मैंने जो कर्म किया । संपूर्ण रूपसे सिद्ध भया ।
ऐसे मैंने बडा जय पाया । यह भी नहीं मानता ॥ ४७ ॥

ऐसे जो कर्म करता । जहां कहीं देखा जाता ।
उसे कहना तत्वता । कर्ता सात्विक ॥ ४८ ॥

राजसका अब अर्जुन । कहता सुन पहचान ।
आकांक्षाका आश्रय-स्थान । बनता विश्वका ॥ ४९ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्विताः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

राजस कर्ताके लक्षण—

गांवका सब कल्मश जैसे । धूरेपे एक होता है वैसे ।
या स्मशानपे आता गांवसे । सारा अमंगल ॥ ६५० ॥

उसी भांति है जो अशेष । विश्वका सभी अभिलाष ।
पद प्रक्षालन विशेष । हुवा है स्थान ॥ ५१ ॥

इसीलिये फल लाभ । होता है जहां सुलभ ।
हो जाता है वहां लोभ । ऐसे कार्यमें ॥ ५२ ॥

फल कामुक आसक्त लोभी अस्वच्छ हिंसक ।
हर्ष औ' शोकसे मारा कर्ता राजस है कहा ॥ २७ ॥

तथा आप कमाया हुवा धन । व्यय न करता कवडी जान ।
उस पर करता क्षण क्षण । निछावर जीव ॥ ५३ ॥

सावध रहता जैसा कृपण । बक रखता मीनपे नयन ।
वैसे देख वह पराया धन । रहता दक्ष ॥ ५४ ॥

पास जानेसे जो उलझाता । लगनेसे देह ही फाडता ।
फल मानो जीभको जलाता । खट्टा बेर ॥ ५५ ॥

वैसे वह जो काया वाचा मन । दुखाता रहता सबका मन ।
करनेमें वह स्वार्थ-साधन । न देखता परहित ॥ ५६ ॥

वैसे ही करनेमें जो कर्म । होता है यदि वह अक्षम ।
किंतु नहीं होता मनोधर्म । अरोचक उसका ॥ ५७ ॥

कनक फल सबाह्य जैसे । भरा रहता विष कांटोंसे ।
रहता वह दुर्बल वैसे । सदा शुचित्वमें ॥ ५८ ॥

जब वह कर्म फल पाता । फूलकर कुप्पा बन जाता ।
विश्वको अंगूठा भी दिखाता । चिढाकरके ॥ ५९ ॥

या कर्म होता जब निष्फल । शोकमें डूब जाता पाताल ।
तथा धिक्कारता है सकल । कर्म जात ॥ ६६० ॥

देख ऐसा कर्माचरण । जान तू काया वाचा मन ।
कर्ता है राजस अर्जुन । निःसंशय वह ॥ ६१ ॥

अब कहता धनुर्धर । जो है कुकर्मका आगर ।
होता है जो ऐसा गोचर । कर्ता तामस ॥ ६२ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठोनैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

स्वच्छंदी क्षुद्र गर्विष्ठ घातकी शठ आलसी ।
दीर्घ-सूत्री सदा खिन्न कर्ता तामस है कहा ॥ २८ ॥

तामस कर्ताके लक्षण—

लगने पर मैं जैसे । आगेका जलता कैसे ।
यह न जानता वैसे । अग्निस्फुलिंग ॥ ६३ ॥

होता मैं कैसे वधका कारण । यह न जानता शस्त्र अर्जुन ।
कालकूटको नहीं होता ज्ञान । अपने परिणामका ॥ ६४ ॥

ऐसे वह धातुक क्रिया । करता रहता धनंजया ।
उससे अपना पराया । होता घात ॥ ६५ ॥

उसको जब जो कुछ करना । क्या होता है यह नहीं देखना ।
जिसभांति बवंडरका आना । ऐसी क्रिया उसकी ॥ ६६ ॥

उसका और जिस कार्यका । संबंध नहीं होता किसीका ।
पागलसे है जैसे कर्मका । नहीं होता वैसे ॥ ६७ ॥

बैलोंके गलेमें जैसे किलहर । इंद्रियोंमें विषय है धनुर्धर ।
लगते हैं तब उन्हें भोगकर । बिताता जीवन ॥ ६८ ॥

हंसने या रोनेका काल । नहीं जानता जैसे बाल ।
वैसे ही सदा उच्छृंखल । रहता है वह ॥ ६९ ॥

होनेसे सदा प्रकृतिके आधीन । कृत्याकृत्य स्वादसे होता उलझन ।
अपने कृत्योंसे फूलता अर्जुन । कूडेके घरसा ॥ ६७० ॥

तथा कभी किसीको देनेमें मान । ईश्वरको भी न करता नमन ।
स्तब्धतामें पर्वतको भी अर्जुन । हराता वह ॥ ७१ ॥

अति कुटिल उसका मन । छुपाये हुए सभी वर्तन ।
पण्यांगना सम जो नयन । छल-मदसे भरे ॥ ७२ ॥

अथवा मानो कपटका । बनाया ही तन उसका ।
जीना मानो द्यूत-कर्मका । घर ही रहता है ॥ ७३ ॥

यह जो उसका प्रादुर्भाव । साभिलाष भिल्लका है गांव ।
उस राह पे कभी पांडव । जाना भी नहीं ॥ ७४ ॥

दूसरोंका सुख देख कर । मानता कष्ट अपने पर ।
जैसे लवण दूधमें गिर । करता अपेय ॥ ७५ ॥

अथवा जैसे ठंडे पदार्थ । आगमें पड़ कर पार्थ
भड़कते मानो वही मूर्त । अग्नि ही है ॥ ७६ ॥
जैसे अच्छा भला आहार । पहुंच पेटके अंदर ।
बनता मल धनुर्धर । उसी भांति ॥ ७७ ॥

बना है कभी किसीका कुशल । देखके वह जानता है शूल ।
तथा उस बताके प्रतिकूल । आता बाहर ॥ ७८ ॥

गुण लेकर जो देता दोष । अमृतका करता है विष ।
दूध पिलाता उसको विष । देता जैसे सर्प ॥ ७९ ॥

सुख मिलेगा इस लोकमें । गति मिलेगी परलोकमें ।
कर्म आता ऐसे समयमें । ऐसे समय ॥ ६८० ॥

आती है उसको अपने आप । निद्रा रखी है जैसे सुखरूप ।
दुर्व्यवहारमें अपने आप । भागती है वह ॥ ८१ ॥

जैसे द्राक्षारस या आम्र-रस । खानेमें मुख चुराता वायस ।
तथा अंधा बनाता है दिवस । जैसे उलूकको ॥ ८२ ॥

वैसे कल्याण-काल जब देखता । तब उसको है आलस आता ।
प्रमादमें है स्फुरण चढ़ता । चाहता वैसे ॥ ८३ ॥

जैसे सदैव समुद्रका उदर । वडवाग्नि रखता है भरकर ।
वैसे है वह विषाद निरंतर । रखता अपनेमें ॥ ८४ ॥

लेंडूककी आगमें धूमावधि । या अपानमें होती है दुर्गंधि ।
इसी भांति वह जीवनावधि । विषाद करता ॥ ८५ ॥

वैसे कल्पांतके भी पार । फल प्राप्ति हो धनुर्धर ।
ऐसे रखता है व्यापार– । अभिलाषा ॥ ८६ ॥

विश्वके उस पारकी चिंता । चितमें ही करता रहता ।
किंतु हाथमें नहीं लगता । तृण भी उसके ॥ ८७ ॥
ऐसे वह लोगोंमें पार्थ । पाप-पुंज ही होता मूर्त ।
देखना ऐसे अव्याहत । कर्ता तामस ॥ ८८ ॥

ऐसा कर्म कर्ता ज्ञान । इनके हैं चिन्ह तीन ।
दिखाये तुझे सुजन- । चक्रवर्ती ॥ ८९ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥ २९ ॥

बुद्धिके तीन प्रकार—

जब अविद्याके ग्राममें । बढ़कर मोह बस्तिमें ।
तथा संदेह भूषणमें । सजके जो आती ॥ ६९० ॥

आत्म-निश्चयके जो दर्शन । करनेमें सुंदर दर्पण ।
ऐसी बुद्धिका भी तुझे तीन । कहता प्रकार ॥ ९१ ॥

इन सत्वादि गुणोंने तीन । न किये इस विश्वमें कौन ।
विषयके प्रकार अर्जुन । कह तू मुझे ॥ ९२ ॥

बिना अग्निके कोई काष्ठ । हुवा है क्या विश्वमें सृष्ट ।
वैसे दृश्य-कोटिमें स्पष्ट । नहीं है जो त्रिधा ॥ ९३ ॥

इसीलिये ये तीनों गुण । करते बुद्धिको त्रिगुण ।
वैसे धृतिको भी अर्जुन । त्रिधा किया है ॥ ९४ ॥

एक जो ऐसे दुष्ट तीन । लेकर भिन्न भिन्न लक्षण ।
इनको कहेंगे स-लक्षण । यहीं आब ॥ ९५ ॥

बुद्धि और धृतिके जहां । भाग दो किये गये यहां ।
प्रथम बुद्धिके ही यहां । कहूँगा प्रकार ॥ ९६ ॥

उत्तम मध्यम निकृष्ट । संसारमें आता जो सुभट ।
उस प्राणीकी तीन बाट । होती है यहां ॥ ९७ ॥

अकरण काम्य जो निषिद्ध । उसके मार्ग हैं ये प्रसिद्ध ।
ये हैं जो संसारमें सबाध । जीवोंको यहां ॥ ९८ ॥

बुद्धिके भेद ये तीन वैसे ही धृतिके कहे ।
गुणानुसार जो सारे कहता भिन्न भिन्न मैं ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३० ॥

सात्त्विक बुद्धिके लक्षण—

तभी अधिकारसे मान लिया । तथा विधि प्रवाहसे जो आया ।
वह एक ही भला कहलाया । नित्यकर्म ॥ ९९ ॥

वही आत्म-प्राप्ति फल । दृष्टि रखके केवल ।
प्यासमें जैसा है जल । सेवन योग्य ॥ ७०० ॥

इतनेसे ही वह जो कर्म । छुडाता जन्म-भय विषम ।
तथा कर देता है सुगम । मोक्ष-सिद्धि ॥ १ ॥

ऐसे कर्मको है करता । संसार भयसे छूटता ।
करणीयत्वमें बढता । मुमुक्ष पदमें ॥ २ ॥

वहां जो बुद्धि ऐसा । बंधाती है भरोसा ।
मोक्ष रखा हुवासा । मिलेगा ही ॥ ३ ॥

इसीलिये रची जैसे निवृत्ति । तलमें आधार डाल प्रवृत्ति ।
इस कर्ममें डुबकी लगाती । इतनेमें ही ॥ ४ ॥

तृषार्थ जैसे पानीसे जीता । पूरमें नांव है तरता ।
या अंधार कूपसे छूटता । सूर्य प्रकाशसे ॥ ५ ॥

नाना पथ्यसे औषध लेता । ऐसे रोग-ग्रस्त भी बचता ।
या मछलीको पानी मिलता । तब जैसे वह ॥ ६ ॥

निश्चय-पूर्वक बचता । उसमें न होता अन्यथा ।
वैसे कर्म-प्रवृत्त होता । मिलता मोक्ष ॥ ७ ॥

कर्म रहता जो करणीय । वहां पूर्ण ज्ञान धनंजय ।
तथा रहता अकरणीय । कहा है आगे ॥ ८ ॥

क्या कर्तव्य अकर्तव्य बंध मोक्ष भयाभय ।
धरना तजना जाने वह है बुद्धि सात्त्विक ॥ ३० ॥

वह जो कर्म काम्यादिक । है संसार भय-दायक ।
अकरणीय है तू देख । कहा गया है ॥ ९ ॥

उस अकार्य कर्ममें । जन्म मरण कालमें ।
प्रवृत्ति सदा पीछेमें । भागती है ॥ ७१० ॥

जैसे आगमें नहीं घुसता । अथाह पानीमें न कूदता ।
प्रज्वलित शूल न धरता । उसी प्रकार ॥ ११ ॥

या काला नाग जो फूत्कारता । उसे देख पकडा न जाता ।
व्याघ्र गुहामें घुसा न जाता । उसी प्रकार ॥ १२ ॥

वैसे कर्म अकरणीय । देखके होता महाभय ।
उपजाती जो असंशय । बुद्धि सात्विक ॥ १३ ॥

जैसे विष मिश्रित अन्न । देख होता मृत्युका ज्ञान ।
निषिद्ध कर्ममें भान । होता कर्मका वैसे ॥ १४ ॥

फिर जो बंध भय भरित । होता है निषिद्ध कर्म प्राप्त ।
निर्विकार जानता निवृत्त । होनेका वह ॥ १५ ॥

ऐसे ही कार्याकार्य विवेक । या प्रवृत्ति-निवृत्तिमापक ।
जैसे रत्न-पारखी परख । करता जौहरी ॥ १६ ॥

वैसे कार्याकार्य शुद्धि । जानती जो निरवधि ।
कहाती सात्त्विक बुद्धि । यह तू जान ॥ १७ ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥ ३१ ॥

राजसिक बुद्धिका लक्षण—

बगुलोंके गांवमें जैसे । चलता नीरक्षीर वैसे ।
या अंधा न जानता जैसे । दिवस रात्र ॥ १८ ॥

कार्य अकार्य कैसे क्या क्या है धर्म अधर्म जो ।
न जान सकती स्वच्छ जान तू बुद्धि राजस ॥ ३१ ॥

या जिसे फूलोंका मकरंद भाता । अथवा काठ कुरेदना सुहाता ।
न होती दोनोंमें कोई विसंगतता । भ्रमरके लिये ॥ १९ ॥

वैसे यहां कार्याकार्य । धर्माधर्मका विषय ।
न होते कोई निर्णय । आचरणसे ॥ ७२० ॥

अजी ! आंखके बिन लेते मोती । उसमें फंसनेकी सदा भीती ।
कभी सफलता भी मिलती । आश्चर्यसे ही ॥ २१ ॥

वैसे जो अकरणीय होता । सम्मुख आनेसे रह जाता ।
तभी तो करनेसे छूटता । नहीं तो दोनों एक ॥ २२ ॥

बुद्धि वह उचित अनुचित । नहीं जानती कुछ भी पार्थ ।
विवाहमें जिस भांति अक्षत । डालते हैं लोग ॥ २३ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥ ३२ ॥

तामसिक बुद्धिके लक्षण—

होता जो राजाका राज पथ । चोरोंको होता है विपरीत ।
उदय होते ही माने रात । राक्षस जैसे ॥ २४ ॥

पुरुष होता है जो भाग्यहीन । उसे कोयला होता गढा धन ।
ऐसे होकर भी न होता धन । उस जीवको ॥ २५ ॥

वैसे धर्ममात्र जो है केवल । उसकी बुद्धि जो है पाप मल ।
सत्यको मानती असत्य मूल । तामस बुद्धि ॥ २६ ॥

मानते सब जिसे अर्थ । उसको संपूर्ण अनर्थ ।
जो जो गुण है व्यवस्थित । उसे मानता दोष ॥ २७ ॥

अथवा मानो श्रुति जात । अनुकरण करते पार्थ ।
वह सबही विपरीत । मानती वह ॥ २८ ॥

तमसे भरके जो है धर्म माने अधर्मको
देखती उलटा अर्थ वह है बुद्धि तामसी ॥ ३२ ॥

इसे किसीसे न पूछकर । तामस मानना धनुर्धर ।
जिस बुद्धिको धर्मार्थ वैर । क्या करना वह ॥ २९ ॥

ऐसे ये बुद्धिके भेद । किये तुझसे विशद ।
स्वबोध कुमुद चंद्र । कहे तुझसे ॥ ७३० ॥

अब इसकी जो बुद्धि वृत्ति । सभी कर्मको आधार होती ।
कैसी वह त्रिविध धृति । कहता हूं तुझे ॥ ३१ ॥

उस धृतिके जो विभाग । तीन होते हैं यदा लिंग ।
कहता हूं उसे सुभग । सुन तू अब ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेंद्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

सात्त्विक धृतिके लक्षण—

उदय होते ही दिनकर । मिटता चौर्य सह अंधार ।
अथवा रजाज्ञा अव्यापार । रोकती जैसे ॥ ३३ ॥

अथवा पवनका जो वेग । चलता रहता है सवेग ।
मिटते गर्जन सह मेघ । अपने आप ॥ ३४ ॥

या अगस्तके होते दर्शन । सिंधु धारण करता मौन ।
चंद्रोदयमें कमल-वन । सिमिटते हैं ॥ ३५ ॥

जैसे मदोन्मत्त कुंजर । चलनेमें उठाके पैर ।
न रखता है भूमिपर । देखके सिंह ॥ ३६ ॥

ऐसे होते हैं जो धीर । उपजते ही अंतर ।
मनादिकके व्यापार । तजते वहीं ॥ ३७ ॥

इंद्रिय विषयक जो गांठ । आप ही छूटती है सुभट ।
घुसते मन-मायके पेट- । में दसो जन ॥ ३८ ॥

चलाती जो क्रिया सारी मन इन्द्रिय प्राणकी ।
समता स्थिरतासे जो वह है धृति सात्त्विक ॥ ३३ ॥

अधोर्ध्वकी मर्यादा तोड़कर । प्राण नवोंकी गांठ बांधकर ।
बैठा रहता है डूब कर । सुषुम्नामें ॥ ३९ ॥

संकल्प विकल्प पट । खोल होता मन प्रकट ।
बुद्धिके पीछे जा सुभट । बैठता वह ॥ ७४० ॥

इस धृतिके कारण । मन प्राण और करण ।
स्वचेष्टाका संभाषण । छोड देते हैं ॥ ४१ ॥

मन प्राणादि फिर संपूर्ण । ध्यानके अंतर्ग्रहमें जान ।
बंद कर रखता अर्जुन । योगसे वह ॥ ४२ ॥

फिर जो परमात्मचक्रवर्ती । स्वाधीन होनेकी होती निश्चिती ।
तब तक छूट न होके धृती । बांध रखती उन्हे ॥ ४३ ॥

यहां जो वही धृती । सात्विक कहलाती ।
ऐसे जो लक्ष्मी-पति । कहता पार्थसे ॥ ४४ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

राजसी धृतिके लक्षण—

शरीर ही आप मान कर । स्वर्ग संसारके दोनों घर ।
भोगना चाहता पेट भर । त्रिवर्गोपायसे ॥ ४५ ॥

मनोरथके समुद्र पर । धर्मार्थकामके नांव पर ।
धैर्य-बलसे क्रिया व्यापार । करता है जो ॥ ४६ ॥

कर्मकी पूंजी जो डालना । उसका चौगुना चाहना ।
इतना सायास करना । जिसका धैर्य ॥ ४७ ॥

वह धृति है राजस । सुन तू पार्थ विशेष ।
तीसरी है जो तामस । कहता हूं अब ॥ ४८ ॥

धर्मार्थ काम सारे ही चलाती लाभ देखके ।
डुबाती फल-आशामें वह है धृति राजसी ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

तामसी धृतिके लक्षण—

सभी अधम गुणोंसे । आ जाता है रूप जिसे ।
कोयला जो कालिमासे । बनता है ॥ ४९ ॥

अजी ! प्राकृत तथा हीन । उसको भी गुणका मान ।
नाम होता है पुण्यजन । दैत्यका जैसे ॥ ७५० ॥

नवग्रहमें जो है पिंगल । उसको कहते हैं मंगल ।
वैसे तममें गुण केवल । अविचार मात्र ॥ ५१ ॥

सब दोषोंका आश्रय स्थान । तमसे सान कर अर्जुन ।
अंगांग जिस नरका मान । बनाये गये हैं ॥ ५२ ॥

आलसको पकड़ बैठता । निद्राका मानो घर ही बनता ।
पापसे जो सगा ही रहता । छूटे दुःखसे कैसे ॥ ५३ ॥

तन धनके मोहसे अर्जुन । नहीं छूटता भयका कारण ।
पत्थर न छोड़ता कडापन । उसी प्रकार ॥ ५४ ॥

पदार्थ जातमें आस रखता । इससे शोकका घर बनता ।
पापसे कभी छूट न सकता । कृतघ्न जैसे ॥ ५५ ॥

जीव-भावसे असंतोष । धरके रखा अहर्निश ।
इससे मैत्री है विशेष । विषादसे नित ॥ ५६ ॥

लहसुन छोडती नहीं दुर्गंधी । तथा कुपथ्यको न छोडती व्याधी ।
इसी भांति इसको मरणावधी । विषाद न छूटता ॥ ५७ ॥

तथा तारुण्य वित्त काम । इससे बढ़ता संभ्रम ।
तभी है भयका आश्रम । बनता वह ॥ ५८ ॥

निद्रा भय न जो छोडे शोक खेद तथा मद ।
ओढती बुद्धिपे तंद्रा वह है धृति तामस ॥ ३५ ॥

आगको न छोड़ता ताप । तथा वैरको नहीं सांप ।
विश्वका वैरी है वासिप । अखंडित ॥ ५९ ॥

अथवा शरीरको काल । न भूलता कभी निर्मल ।
वैसे ही तममें अचल । रहता मद ॥ ७६० ॥

ऐसे ये पांच निद्रादिक । तामसके रहते दोष ।
इसका आधार जो एक । धृति तामस ॥ ६१ ॥

कर्म बुद्धि तथा धृतिका संबंध—

कहलाती है ऐसी धृति । जानना तामस सुमति ।
ऐसा कहता विश्व-पति । धनुर्धरसे ॥ ६२ ॥

इस प्रकार त्रिविध बुद्धि । करती कर्म निश्चय आदि ।
धृति बनाती उसकी सिद्धि । तदनंतर ॥ ६३ ॥

सूर्यादिसे दीखता पथ । चलना होता पैरोंको नित ।
किंतु चलना धैर्यसे पार्थ । होता निरंतर ॥ ६४ ॥

वैसे बुद्धि कर्मको दिखाती । इंद्रियां उसको हैं करतीं ।
करनेमें जो अपेक्षा होती । धैर्यकी सदा ॥ ६५ ॥

तब यह सब तेरे प्रति । कहा है मैंने त्रिविध धृति ।
इससे होती कर्म निष्पत्ति । होने पर तब ॥ ६६ ॥

त्रिविध कर्मके फल उत्पन्न । होने पर उसे सुख कहते जान ।
वह भी त्रिविध होता अर्जुन । कर्म परसे ॥ ६७ ॥

फल रूप यह सुख । त्रिगुणसे भिदा देख ।
मीमांसा इसकी नेक । करूंगा शुद्ध ॥ ६८ ॥

किंतु शुद्ध है वह कैसे कहूंगा । कानोंसे ग्रहण करना चाहेगा ।
कान तथा हाथका मल लगेगा । इस शुद्धताको ॥ ६९ ॥

इससे करके तू अनादर । श्रवण होता है जो बाहर ।
सुन अंतःकरण देकर । जीवभावसे ॥ ७७० ॥

ऐसे कह करके देव । त्रिविध सुखका प्रस्ताव ।
निरूपते हैं सावयव । इस प्रकारके ॥ ७१ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखांतं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

तीन प्रकारके सुखका विवेचन—

कहूंगा सुखत्रय संज्ञा । ऐसी की है मैंने प्रतिज्ञा ।
कहता हूं सुन तू प्राज्ञ । इस समय ॥ ७२ ॥

जीव करता जब आत्मालिंगन । तब अनुभव करता अर्जुन ।
उस प्रकारका कराता मैं दर्शन । तुझको अब ॥ ७३ ॥

किंतु मात्राके नापसे जैसे । दिव्यौषधियां लेते हैं वैसे ।
या रांगेको रस भावनासे । बनाते हैं चांदी ॥ ७४ ॥

अथवा जैसे नूनका नीर । करना हो तो दो चार बार ।
देने पड़ते उसको मार । पानीके जैसे ॥ ७५ ॥

वैसे प्राप्त सुख लेशसे । जीवको भावना देनेसे ।
नासता है भावाभ्याससे । जीवका दुःख ॥ ७६ ॥

ऐसा जो आत्म-सुख । हुआ यहां त्रिगुणात्मक ।
वह भी कहता हूं देख । उसका रूप ॥ ७७ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

सात्विक सुखका लक्षण—

जैसे चंदनकी जड़ । सर्पसे रहता अड़ ।
या निधानका किवाड । पिशाचके हाथमें ॥ ७८ ॥

कहता सुन तू पार्थ सुख तीन प्रकारके ।
अभ्याससे रमाता जो दिखाता अंत दुःखका ॥ ३६ ॥
आदि जो विषसा तीता अंतमें अमृतोपम ।
आत्मामें शुद्ध बुद्धीको मिलता सुख सात्विक ॥ ३७ ॥

या स्वर्गके सुंदर भोग । रोक रखते हैं जो याग ।
अथवा दुःखके प्रसंग । बालत्वमें जैसे ॥ ७९ ॥

होनेमें जैसे दीपकी सिद्धि । कठिनाई घूमकी है आदि ।
अथवा होती है दिव्यौषधि । जीभको दुःखद ॥ ७८० ॥

इस प्रकार सुन अर्जुन । जिस सुखका उगम-स्थान ।
यम दम आदिके कारण । होता है विषम ॥ ८१ ॥

करना सभी स्नेहका दमन । वैराग्य उत्पन्न होता अर्जुन ।
स्वर्ग संसार सीमाका बंधन । रहता है दूर ॥ ८२ ॥

विवेक श्रवणका अति त्रास । तथा व्रताचरण है कर्कश ।
करते हैं बुद्धि आदिका नाश । रात्रिदिवस ॥ ८३ ॥

मुखसे सुषुम्नाके । ढेर प्राणायामके ।
पडते हैं ढेर ढेरके । निगलना तब ॥ ८४ ॥

जैसे चक्रवाकके विरहमें होता । या शिशुको स्तनसे छुडानेमें होता
भूखेको थालीसे उठानेमें जो होता । उससे अधिक दुःख ॥ ८५

माताके सामनेसे बालक । छीनता है काल जब एक ।
अथवा छूटता है उदक । मीनसे जब ॥ ८६ ॥

वैसे विषयोंका घर है पार्थ । तजनेमें इंद्रियोंको युगांत ।
होता तब धीर सहता नित । वैराग्यशाली ॥ ८७ ॥

ऐसे जिस सुखका प्रारंभ । दिखाता है काठिण्यका क्षोभ ।
फिर होता क्षीराब्धिमें लाभ । अमृतसा अंतमें ॥ ८८ ॥

प्रथम आया वैराग्यका गरल । उसको दिया धैर्य शंभुने गला ।
तभी होता ज्ञानामृतका निर्मल । महदानंद ॥ ८९ ॥

चुभता आगसे भी तीखा । कच्चापन हरे द्राक्षका ।
पक्वतामें जैसे उसका । माधुर्य रहता ॥ ७९० ॥

इस वैराग्यादिका भी वैसा । सुपक्व आत्म-प्रकाशमें वैसा ।
वैराग्य सह होता है नाशसा । अविद्याजातका ॥ ९१ ॥

तब जैसे गंगा सागरमें । बुद्धि विलीन होती आत्मामें ।
अद्वयानंदकी अपनेमें । खुलती खान ॥ ९२ ॥

ऐसे स्वानुभव विश्राम । वैराग्य-मूलका परिणाम ।
उस सुखको सात्विक नाम । दिया गया है ॥ ९३ ॥

विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

राजस सुखके लक्षण—

मिलती जब विषय इंद्रियां । छूता है जो सुख उस समय ।
दोनों किनारोंको है धनंजय । उफानमें आकर ॥ ९४ ॥

अधिकारी आते जब गांव । होता है जब जैसा उत्सव ।
अथवा ऋण लेके विवाह । विस्तार होता ॥ ९५ ॥

या रोगीकी जीभमें जैसे । केला-बूरा भाता है वैसे ।
बचनाग पहले जैसे । लगता मीठा ॥ ९६ ॥

प्रवास-चौर्यके पहले मित्र । या हाट बाटका कलत्र ।
होते उनके विनोद विचित्र । उसी प्रकार ॥ ९७ ॥

वैसे जो विषयेंद्रियोंका मिलन । करता जीवके सुखमें पोषण ।
फिर जैसे चट्टानको रत्न मान । मरता हंस जैसे ॥ ९८ ॥

वैसे खर्चके सारा उत्पन्न । मिटता जीवन संपन्न ।
क्षीण होता सुकृतका धन । जीवका सारा ॥ ९९ ॥

तथा जब सब भोग मिटता । तब वह मात्र स्वप्नसा होता ।
फिर केवल मात्र जो रहता । हानिका मार ॥ ८०० ॥

विपत्ति है ऐसे जो सुख । ऐहिक परिणाम देख ।
परमें बनके जो विख । उलटता है ॥ १ ॥

करनेसे लाड़ विषयोंके । जला करके खेत धर्मके ।
भोग किये नाना उत्सवके । विषयोंसे वहां ॥ २ ॥

पहला लगता मीठा अंतमें विष मारक ।
विषय योगसे पाती इंद्रियां सुख राजस ॥ ३८ ॥

पातकोंमें तब आता बल । नरकमें देते हैं वे स्थल ।
उस सुखने किया है छल । अंतमें ऐसे ॥ ३ ॥
बछनाग विष है मधुर । किंतु अंतमें मारक क्रूर ।
वैसे पहले होता मधुर । अंतमें कटु ॥ ४ ॥
यह सुख निःसंदेह पार्थ । रजो गुणसे बना है सार्थ ।
इसीलिये न छूना सुखार्थ । इसका अंग ॥ ५ ॥

यदग्रे चानुबंधे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

तामसिक सुखके लक्षण—

करके अपेयका पान । तथा अखाद्यका भोजन ।
और पर-स्त्री-सन्निधान । देता है जो सुख ॥ ६ ॥
या दूसरोंका कर संहार । और कर परस्वापहार ।
होता है सुखका अवतार । भाटोंके मुखसे ॥ ७ ॥
आलस्यमें होता जिसका पोषण । या निद्रामें होते हैं अनुभव जान ।
जिसका आद्यंत भुलाता अर्जुन । अपने पथको ॥ ८ ॥
जो कुछ है वह पार्थ । तामस मान यथार्थ ।
इसमें सुखकी बात । असंभाव्य ॥ ९ ॥
मूलमें कर्मके तीन प्रकार। इससे सुख भी तीन प्रकार ।
यह सब तुझे शास्त्रानुसार । कह दिया मैंने ॥ ८१० ॥
कर्ता कर्म तथा कर्म-फल । यह त्रिपुटि एक केवल ।
इसके बिना न सूक्ष्म-स्थूल । कुछ भी यहां ॥ ११ ॥
तथा यह जो त्रिपुटि । तीनों गुणोंमें किरीटी ।
बुनी गयी है जो पटीं । तंतु समान ॥ १२ ॥

निद्रा प्रमाद आलस्य आत्माको घेरके सदा ।
आदि औ' अंतमें जो है भुलाता सुख तामस ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदोभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

प्रकृतिके ये गुण सर्वव्यापी और सबको बंधनकारक हैं—

तभी जो प्रकृतिसे प्रकट होता । तथा सत्वादिकसे नहीं बंधता ।
स्वर्ग या मृत्यु लोकमें नहीं होता । ऐसा कुछ भी कहीं ॥ १३ ॥

ऊनके विना कहीं कंबल । मृत्तिका बिन कर्दम गोल ।
अथवा जल बिन कल्लोल । होता है क्या ॥ १४ ॥

वैसे कहीं गुणके बिन । नहीं है सृष्टिकी रचना ।
ऐसे नहीं हुवा अर्जुन । प्राणिजातमें ॥ १५ ॥

इसीलिये यह सकल । तीन गुणोंसे है केवल ।
बनाया गया है अखिल । ऐसे जान ॥ १६ ॥

गुणोंसे देवोंके तीन प्रकार । तथा लोकके भी तीन आकार ।
गुणोंसे समाजको दिये चार । व्यापार वर्णके ॥ १७ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

वर्ण-व्यवस्थाका आधार भी तीन गुण ही है--

वही जो चार वर्ण । पूछेगा तू कौन कौन ।
वहां जो मुख्य ब्राह्मण । आधार ही है ॥ १८ ॥

यहां जो क्षत्रिय वैश्य दोन । मानमें ब्राह्मणोंके समान ।
योग्य हैं वे वैदिक विधान । करनेमें जो ॥ १९ ॥

शूद्रका है चतुर्थ वर्ण । वेदसे नाता नहीं जान ।
तभी त्रिवर्णके आधीन । उसकी वृत्ति ॥ ८२० ॥

पृथ्वी पर यहां या तो देवोंमें स्वर्गमें कहीं ।
प्रकृतिके गुणोंमेंसे कोई भी छूटता नहीं ॥ ४० ॥

ब्राह्मणादिक वर्णोंका किया कर्म विभाजन ।
गुण है जिसके जैसे उनके अनुसारही ॥ ४१ ॥

वृत्तिका निकट संबंध । ब्राह्मणादिसे होता सिद्ध ।
उससे शूद्र जो प्रसिद्ध । हुवा चौथा ॥ २१ ॥

जैसे फूलोंके साथ ही साथ । सूत्रकी गंध लेते श्रीमंत ।
द्विज संग शूद्रको भी पार्थ । स्वीकारते वेद ॥ २२ ॥

ऐसी है अजी पार्था । चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ।
दिखाऊं कर्म पथ । इसका मैं ॥ २३ ॥

जिन गुणोंसे ये वर्ण हैं चार । जन्म-मृत्यू कैंचीसे छूटकर ।
ईश्वरके निकट धनुर्धर । पहुंचेंगे ही ॥ २४ ॥

जिस आत्म-प्रकृतिने यहां । सत्वादिक गुणोंमें है जहां ।
लोगोंको ये चार कर्म यहां । बांट दिये हैं ॥ २५ ॥

पिताने बांटा जैसे जो संचित धन । सूर्यने राहीको पथ दिखाया जान ।
या उनके कर्म सेवकोंको अर्जुन । दिखाये हैं स्वामीने ॥ २६ ॥

इस भांति प्रवृत्तिने गुण । फैलाकर किये चार वर्ण ।
कर्म रूपसे जान अर्जुन । किया विस्तार ॥ २७ ॥

यहां तू सत्व-गुणसे जान । कम अधिक मिश्रण बन ।
हुवा इन दोनोंका नियोजन । ब्राह्मण क्षत्रिय ॥ २८ ॥

तथा है जो रज सात्विक । उससे रचे वैश्य लोक ।
रज तम मिलाके देख । हुए शूद्र ॥ २९ ॥

ऐसा एकही प्राणि वृंद । किया चतुवर्ण भेद ।
सुन वह गुण प्रबुद्ध । पांडुकुमार ॥ ८३० ॥

किया आप रखा जो जैसे । दीप-ज्योत दिखाती जैसे ।
गुण भिन्न कर्म भी वैसे । दिखाते शास्त्र ॥ ३१ ॥

वैसे अब कौन कौन । वर्ण विहित लक्षण ।
कहता कर श्रवण । सौभाग्य निधि तू ॥ ३२ ॥

सर्वेंद्रियोंकी सभी प्रवृत्तियां । अपने हाथमें ले धनंजया ।
बुद्धि मिलती है आत्मासे प्रिया । पतिव्रता जैसे ॥ ३३ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षांतिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणोंका स्वभाव धर्म—

बुद्धिका जो ऐसे उपराम । इसके साथ जान तू राम ।
यह गुणोंका है उपक्रम । जिन कर्मोंमें ॥ ३४ ॥

बाह्य इंद्रियोंका यह जो झुंड । होता है धर्म-विरुद्ध उद्दंड ।
तब रोक लेता जो विधि-दंड । वही है दम ॥ ३५ ॥

करता जो शममें सहाय । वह गुण दम धनंजय ।
यह दूसरे गुणका कार्य । ब्रह्मकर्ममें ॥ ३६ ॥

जैसे है छटीकी रात । नहीं भूलते हैं ज्योत ।
वैसे ईश्वरकी बात । चितमें रखना ॥ ३७ ॥

इसका नाम है तप । तीसरे गुणका रूप ।
वैसे शौच भी निष्पाप । द्विविध यहां ॥ ३८ ॥

भावशुद्धिसे भरा हुवा मन । विहित कर्मसे भूषित तन ।
ऐसे जिसका सबाह्य जीवन । सजा हुवा है ॥ ३९ ॥

इसका नाम शौच है पार्था । ब्राह्मण-कर्मका गुण चौथा ।
तथा पृथ्वीके भांति सर्वथा । सभी सहना ॥ ८४० ॥

इसका नाम पांडव । गुण है कहा पांचवा ।
स्वरमें जैसे सुहाव । पंचम स्वर ॥ ४१ ॥

तथा टेडेमेडे किनारोंसे । सरल बहती गंगा जैसे ।
अथवा टेडे ईखमें जैसे । रहता रस सरल ॥ ४२ ॥

विश्वमें जीवोंके विषयमें । सरलतासे बरतनेमें ।
दीखता गुण जो कर्ममें । आर्जव है छटा ॥ ४३ ॥

तप शांति क्षमा श्रद्धा ज्ञान विज्ञान निग्रह ।
ऋजुता और पावित्र्य ब्रह्मकर्म स्वभावसे ॥ ४२ ॥

जिस भांति माली संपन्न । जड़को सींचता अर्जुन ।
फलमें उसका दर्शन । करता है फिर ॥ ४४ ॥

वैसे शास्त्रानुसार आचरण । कर करना ईश्वर दर्शन ।
यही एक निश्चय अर्जुन । करना ज्ञान है ॥ ४५ ॥

ब्राह्मण कर्ममें ज्ञान । सातवा गुण है जान ।
विज्ञानका रूप सुन । कहता अब ॥ ४६ ॥

अंत:करण शुद्धिके समय । शास्त्रका ध्यान बलसे विलय ।
ईश्वर तत्वमें होना निश्चय । बुद्धिका जान ॥ ४७ ॥

वास्तविक यह विज्ञान । आठवा है जो गुणरत्न ।
तथा आस्तिक्य भी सुन । गुण है नौवा ॥ ४८ ॥

राज-मुद्रा जिसके पास होती । जनता उसीको है मान देती ।
सच्छास्त्रोंसे जो भी स्वीकार होती । उसी राहको ॥ ४९ ॥

अति आदरसे जो मानता । उसीको मैं आस्तिक्य कहता ।
उसे नौवा गुण मैं कहता । इस स्थानपे ॥ ८५० ॥

ऐसे शमदमादिक । गुण हैं नौ निर्दोष ।
कर्म जान स्वाभाविक । ब्राह्मणके ये ॥ ५१ ॥

यह नौ गुण-रत्नाकर । या नवरत्नोंका है हार ।
प्रकाशको जैसे भास्कर । धारण करता ॥ ५२ ॥

या चंपक पुष्पसे चंपा पूजता । या चांदनीसे ही चंद्र उजलता ।
अथवा चंदन निजको चर्चिता । सौरभसे अपने ॥ ५३ ॥

नौ गुणोंका जड़ावू भूषण । धारण करता जो ब्राह्मण ।
कभी न छोड़ता तन मन । ब्राह्मणका उसे ॥ ५४ ॥

अब क्षत्रियको जो उचित । कर्म कहता तुझे निश्चित ।
बुद्धि सह तू देकर चित्त । सुन तू अब ॥ ५५ ॥

क्षत्रियोंका स्वभाव-धर्म—

तेजमें कभी किसीका भानु । सहाय न चाहता अर्जुन ।
शिकारीमें सिंह कभी न- । चाहता सहाय ॥ ५६ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

ऐसे जो स्वाभाविक सशक्त । सहाय विन उद्भट पार्थ ।
ऐसे श्रेष्ठ शौर्य विकसित । गुण हैं प्रथम ॥ ५७ ॥

तथा जैसे सूर्यका प्रताप । कोटि नक्षत्र करता लोप ।
किंतु उनसे न होता लोप । चंद्र सह भी वे हो तो ॥ ५८ ॥

ऐसे प्रौढ गुणमें पार्थ । विश्वको करता विस्मित ।
किंतु आप न विचलित । होता है कभी ॥ ५९ ॥

ऐसा प्रगल्भ रूप जो तेज । क्षात्र-धर्मका गुण है दूजा ।
इसी भांति धैर्य है सहज । गुण तीसरा ॥ ८६० ॥

टूट पडा भी यदि आकाश । बुद्धिकी आंखें कभी मानुस ।
मिटता नहीं है स-साहस । वही है धैर्य ॥ ६१ ॥

तथा पानी कितना ही गहरा होता । कमल ऊपर आकर ही खिलता ।
या आकाश किसीसे नहीं हारता । ऊंचाईमें कभी ॥ ६२ ॥

कैसी ही विवश अवस्था । जीवनमें पाकर पार्थ ।
न छेदती प्रज्ञा सर्वथा । स्थिर बुद्धिकी ॥ ६३ ॥

ऐसी दक्षता है जो चोख । यह है चौथा गुण देख ।
तथा जूझ जो अलौकिक । गुण पांचवा ॥ ६४ ॥

जैसे सूर्यमुखीका पुष्पक । सदा सूर्यकी ओर सन्मुख ।
वैसे वह शत्रुके सन्मुख । होता है सदा ॥ ६५ ॥

यत्न-पूर्वक गर्भिणी जैसे । टालती है पुरुषको वैसे ।
समरमें पीठ दिखानेसे । बचता रहता ॥ ६६ ॥

क्षत्रियोंका यह आचार । पांचवा गुणेंद्र धनुर्धर ।
पुरुषार्थीके सिरपर । भक्ति है जैसे ॥ ६७ ॥

शौर्य धैर्य प्रजा रक्षा युद्धमें अपलायन ।
दातृत्व दक्षता तेज क्षात्र-धर्म स्वभावसे ॥ ४३ ॥

लगे हुए अपने फल फूल । देनेमें वृक्ष उदार सरल ।
अथवा देता जैसा परिमल । कमलवन ॥ ६८ ॥

जितना जो चाहता उतना । चंद्रका उसे चांदनी देना ।
वैसे चाहनेवालेको देना । इच्छानुसार ॥ ६९ ॥

ऐसा अपरमित दान । जहां है छटा गुण रत्न ।
तथा आज्ञाका एक स्थान । होता है सदा ॥ ८७० ॥

करके अवयवोंका पोषण । उनसे सेवा लेता अनुदिन ।
ऐसे करके प्रजानुरंजन । भोगना प्रजासुख ॥ ७१ ॥

उसका नाम है ईश्वर-भाव । सब सामर्थ्यका है वही ठाव ।
सब गुणोंमें यह महाराव । क्षत्रियोंके ॥ ७२ ॥

ऐसे हैं शौर्यादि सात गुण । जिससे हैं विशेष भूषण ।
सप्त ऋषीसे शोभता गगन । वैसे ही है यह ॥ ७३ ॥

सात गुणोंसे जो विचित्र । विश्वमें है कर्म पवित्र ।
यह जान सहज क्षात्र- । धर्म है क्षत्रियोंका ॥ ७४ ॥

ऐसे क्षत्रिय नहीं है नर । स्वत्व-स्वर्णका मेरु डोंगर ।
तभी है स्वर्गके वे आधार । गुण है सात ॥ ७५ ॥

अथवा जो सात गुणार्णव । घेरे हैं पृथ्वि सह वैभव ।
भोगता है क्षत्रिय पांडव । इस प्रकार ॥ ७६ ॥

अथवा है इस गुण-प्रवाहसे । क्रिया-गंगा उसके अंगमें जैसे ।
मिलके जगमें महा सागरसे । शोभती है ॥ ७७ ॥

किंतु यह रहने दे देख । शौर्यादिक जो हैं गुणात्मक ।
सात कर्म हैं जो स्वाभाविक । क्षत्रिय जनके ॥ ७८ ॥

अब जो वैश्यको उचित । गुण कहता जो निश्चित ।
उनको सुन अब पार्थ । ध्यान पूर्वक ॥ ७९ ॥

वैश्य तथा शूद्रोंका कर्म—

भूमि बीज और हल । इसका लेकर बल ।
जोड़ना लाभ अतुल । जिनका काम ॥ ८८० ॥

कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
पारिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

अथवा कृषिसे है जीना । गोधनकी रक्षा करना ।
अधिक मूल्यमें बेचना । स्वस्त वस्तु ॥ ८१ ॥

इतना ही है धनंजय । वैश्य-कर्मका समुदाय ।
वैश्यका गुण-समुच्चय । इतना जान ॥ ८२ ॥

तथा वैश्व क्षत्रिय ब्राह्मण । द्विजन्मके हैं ये तीनों वर्ण ।
इन सबका जो शुश्रूषण । कर्म है शूद्रका ॥ ८३ ॥

द्विज-सुश्रूषासे पर । शूद्र कर्म ना यहांपर ।
वर्णोचित है धनुर्धर । दिखाये कर्म ॥ ८४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विंदति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

वर्णानुसार सहज कर्म ही अधिकार है—

भिन्न भिन्न वर्णोंको उचित । कर्म इसी प्रकार हैं पार्थ ।
जैसे इंद्रियोंको है उचित । शब्दादिक विषय ॥ ८५ ॥

अथवा मेघसे जो चूता । पानीको उचित सरिता ।
सरिताको है पांडुसुता । उचित है सिंधु ॥ ८६ ॥

वर्णाश्रम वश जैसे । करणीय कार्य ऐसे ।
गोरेकी गौरता जैसे । होती स्वाभाविक ॥ ८७ ॥

वह है जो स्वाभाविक कर्म । शास्त्रानुसार ही वीरोत्तम ।
करनेमें ही उत्कट प्रेम । ऐसे रहता ॥ ८८ ॥

खेती व्यापार गोरक्षा वैश्यकर्म स्वभावसे ।
करना प्राप्त सेवा जो शूद्र-कर्म स्वभावसे ॥ ४४ ॥

जो है स्व-कर्ममें दक्ष पाता है मोक्ष निश्चित ।
मोक्ष कैसा सुनो पाता स्वकर्म दक्ष जो नर ॥ ४५ ॥

होता है यदि अपना ही रत्न । कराता जव्हेरीसे परीक्षण ।
वैसे शास्त्रानुसार निरीक्षण । करना कर्मका ॥ ८९ ॥

जैसे दृष्टि होती है अपने पास । दीपके विन उपयोग न खास ।
या पथ नहीं जानने पर विशेष । जैसे हैं पैर ॥ ८९० ॥

तभी जो है वर्णानुसार । सहज होता अधिकार ।
आप हो शास्त्रोंसे गोचर । करता आप ॥ ९१ ॥

जो है घरकी ही धरोहर । दीप दिखाता है धनुर्धर ।
उठालेनेमें कह तू फिर । आलस कैसे ॥ ९२ ॥

स्वाभाविक ही जो पाया । शास्त्रोंसे सही कहा गया ।
विहित कर्म अपनाया । आचरणमें जो ॥ ९३ ॥

आलसको छोडकर । फलाशाको तज कर ।
तन मन एक कर । देना आरंभमें ॥ ९४ ॥

प्रवाह-बद्ध होकर बहता । पानी भिन्न दिशामें नहीं जाता ।
वैसे ही शास्त्रोचित आचरता । अपना कर्म ॥ ९५ ॥

इस प्रकारसे जो पार्थ । स्वयं कर्म करता विहित ।
करता है मोक्ष-द्वार प्राप्त । इस ओरका ॥ ९६ ॥

अकरणीय और निषिद्ध । कर्मसे न रखना संबंध ।
तभी तो वह भव-बद्ध । नहीं होता ॥ ९७ ॥

शास्त्रोक्त निष्काम कर्मसे आत्म-ज्ञान मिलता है—

तथा काम्य-कर्मकी ओर । दृष्टिपात भी नहीं कर ।
स्वर्गका भी चंदन-द्वार । रोकता वह ॥ ९८ ॥

वैसे ही अन्य जो है नित्य-कर्म । फल-त्यागसे किये निष्काम ।
इसीलिये है मोक्षकी सीम । पायी उसने ॥ ९९ ॥

ऐसे शुभाशुभ संसार । तज कर जो धनुर्धर ।
वैराग्य मोक्ष-द्वार पर । आ के खडा हुवा ॥ ९०० ॥

सकल भाग्यकी है जो सीमा । तथा है मोक्ष लाभकी प्रमा ।
विविध कर्ममार्गोंका श्रम । शांत होता यहां ॥ १ ॥

मोक्ष-फलका जो दिया हुवा ओल । अथवा सुकृत तरुका है फूल ।
वैराग्य कमल पर अलिकुल । बैठता जैसे ॥ २ ॥

जैसे आत्म-ज्ञान सुदिनका । वार्ता देनेवाले अरुणका ।
उदय होता है वैराग्यका । उस समय ॥ ३ ॥

अथवा मानो वह आत्म-ज्ञान । हाथमें जिससे आता निधान ।
उस वैराग्यका है दिव्यांजन । आता है बुद्धिमें ॥ ४ ॥

ऐसी जो मोक्षकी योग्यता । सिद्ध होती है पांडुसुता ।
विहित कर्म जो करता । उसको सदैव ॥ ५ ॥

यह विहित कर्म जो अर्जुन । अपना मानो अनन्य जीवन ।
गुरु सर्वात्मकका है पूजन । श्रेष्ठ तम जो ॥ ६ ॥

या संपूर्ण भोग सह जैसे । पतिव्रता रमती पतिसे ।
उसी क्रियाको कहते वैसे । किया सभी तप ॥ ७ ॥

या बालकको माताके बिन । दूसरा क्या है अन्य साधन ।
तभी है माताकी गोद मान । उसका धर्म ॥ ८ ॥

केवल पानी ही मान मीन । गंगाको नहीं तजके जान ।
पाता जैसे सभी तीर्थ स्थान । सागर सहज ॥ ९ ॥

वैसे है अपने जो विहित । उपाय स्मरनेसे सतत ।
ऐसे करता कि जगन्नाथ । मानले भार ॥ ९१० ॥

अजी ! जिसको जो विहित । ईश्वरका है मनोगत ।
मान करनेसे निर्भ्रांत । मिलता वह ॥ ११ ॥

अजी ! मनमें जो उतरती । दासी भी है स्वामिनी बनती ।
शीस देकर होती जो प्राप्ति । स्वामीकी कृपा ॥ १२ ॥

वैसे स्वामीका है मनोभाव । न चूकता है परम सेवा ।
यह छोड दूसरा पांडव । केवल वाणिज्य ॥ १३ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदति मानवः ॥ ४६ ॥

मोक्षके लिये स्वधर्ममें आस्था अनिवार्य है—

तभी है विहित क्रिया करना । मानो ईश्वरकी आज्ञा पालना ।
जिससे प्राप्त हुवा है अर्जुन । आकार भूतोंको ॥ १४ ॥

टुकडोंसे जो अविद्याके । बनाकर गुड्डे उनके ।
खिलाता है तीन गुणोंके । अहंकार सूत्रसे ॥ १५ ॥

जिससे यह विश्व समस्त । अंतर्बाह्य संपूर्ण भरित ।
रहते हैं जैसे दीप जात । तेजसे वैसे ॥ १६ ॥

वह सर्वात्मक ईश्वर । स्वकर्म कुसुमसे वीर ।
पूजा जाता जब अपार । तोषता वह ॥ १७ ॥

तब है जैसी पूजासे । संतुष्ट आत्म-रामसे ।
मिलता अति प्रेमसे । वैराग्य-प्रसाद ॥ १८ ॥

उस वैराग्य-प्रसादके कारण । होता है सतत ईश-चिंतन ।
नहीं सुहाता अन्य कुछ मान । वमन है सारा ॥ १९ ॥

जैसे प्राणनाथके वियोगमें । वियोगिनी दुःख पाती जीनेमें ।
चुभते सारे सुख भोगनेमें । दुःख रूप ॥ ९२० ॥

उदय न होते सम्यग्ज्ञान । ध्यानसे तन्मयता अर्जुन ।
आती है ऐसी योग्यता जान । बोधसे ही ॥ २१ ॥

इसीलिये जो मोक्ष-लाभार्थ । तनसे आचरता है व्रत ।
उसे स्वधर्ममें आस्था पार्थ । रखनी ही होगी ॥ २२ ॥

स्वधर्मसे नियत-कर्म स्वभावके दोषोंको दूर कहता है—

अजी है अपना जो स्वधर्म । आचरणमें यदि विषम ।
तो भी देखना है परिणाम । फलता जो ॥ २३ ॥

विस्तार जिसका विश्व प्रेरता प्राणिमात्र जो ।
उसको पूजके मोक्ष पाता स्वकर्म पुष्पसे ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

अपने हितके लिये सब । नीम है सुख दायक जब ।
उसके तीतापनसे तब । उकतायें कैसे ॥ २४ ॥

फलनेसे प्रथम जैसे । आशा भंग होता केलेसे ।
इसीलिये उखाडनेसे । फल मिलेगा क्या ॥ २५ ॥

स्वधर्मका आचरण । करना जान कठिण ।
तजा तो मोक्ष अर्जुन । मिलेगा कहां ? ॥ २६ ॥

तथा अपनी जो माता । कुलटा होनेसे पार्था ।
तो भी होते हैं जीविता । स्नेह न होता टेडा ॥ २७ ॥

अथवा जो है परकीय । रंभासे सुंदर काय ।
उससे मिले क्या स्तन्य । बालकको कभी ॥ २८ ॥

अजी ! पानीसे भी बहुत । गुणमें उत्तम घृत ।
इससे कह मीन पार्थ । रहेगा क्या उसमें ॥ २९ ॥

विश्वको होता है जो विष । जंतुओंका वह पीयूष ।
तथा विश्वका गुड देख । विष है उनको ॥ ९३० ॥

इसीलिये है जो शास्त्र-विहित । कर्मसे खुलता भव अंकित ।
तभी कष्टदायक भी विहित । करना कर्म ॥ ३१ ॥

अपना विहित-कर्म तजकर । दूसरोंका भला जो अपनाकर ।
जैसे पैरोंसे चलना छोडकर । चलना सिरसे ॥ ३२ ॥

इसीलिये जो कर्म अपना । स्वभावसे मिला हुवा मान ।
करनेसे ही कर्म-बंधन । छूटता पार्थ ॥ ३३ ॥

तथा स्वधर्मको पालना । पर-धर्म जान तजना ।
यह नियम न पालना । उस समय ॥ ३४ ॥

हलका अपना धर्म भला है पर धर्मसे ।
जलाता दोष जो कर्म नियुक्त जो स्वभावसे ॥ ४७ ॥

जब न होता आत्मानुभव । कर्म नहीं छूटता पांडव ।
उन्हे भोगना दुःख सदैव । मिलता मात्र ॥ ३५ ॥

सहजं कर्म कौंतेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

प्रत्येक कर्म करते समय प्रारंभमें आयास होते हैं—

इसीलिये किसी भी कर्ममें । आयास होते हैं प्रारंभमें ।
तब कह तू क्या स्वधर्ममें । रहा दोष ॥ ३६ ॥

अजी ! सरल मार्ग चलना । पैरोंका यदि है थक जाना ।
तो घने जंगलमें घुसना । तब भी वही ॥ ३७ ॥

शिला या साथ लिया पाथेय । एक ही भार है धनंजय ।
विश्रांतिमें जो सुखका होय । लेना है वही ॥ ३८ ॥

वैसे तो दाना और भूसा । कूटनेमें श्रम एक-सा ।
पकानेमें श्वानका मांस । तथा हविष्यान्न ॥ ३९ ॥

दधि तथा जलका मंथन । व्यापार जैसा एक समान ।
वालू तथा तिलोंका पेरना । एक ही जैसा ॥ ९४० ॥

करनेमें नित्यका होम हवन । जलाके आग करना दहन ।
फूंकके धूम सहना है अर्जुन । एक जैसा ही ॥ ४१ ॥

धर्म-पत्नी या वारांगना । पोसनेमें कष्ट समान ।
वारांगना रख करना । अन्याय क्या दूसरा ॥ ४२ ॥

पीठमें लगके हथियार । आती जब मृत्यु धनुर्धर ।
तब सम्मुख हो लडकर । करना विक्रम ॥ ४३ ॥

अकुल स्त्री मारके भयसे । परगृहमें खाती है वैसे ।
अपने पतिको तजनेसे । मिला ही क्या अपना ॥ ४४ ॥

सहज प्राप्त जो कर्म न छोडना सदोष भी ।
दोष हैं सब कर्मोंमें जैसे हैं धूम आगमें ॥ ४८ ॥

वैसे कभी कोई कर्म । नही होता बिना श्रम ।
तब है विहित कर्म । करना क्या बुरा ॥ ४५ ॥

लेनेसे जब अल्प अमृत । मिलता है अमर जीवित ।
तब सर्वस्व देनेमें पार्थ । जाता क्या अपना ॥ ४६ ॥

अजी! क्यों मूल्य देकर । पीना विष खरीद कर ।
मरना आत्म-दाह कर । पडता है जो ॥ ४७ ॥

वैसे कष्ट देकर इंद्रियोंको । खर्च कर आयुष्यके दिनोंको ।
और क्या इकट्ठा किया पापको । दुःखके लिये ॥ ४८ ॥

इसलिये पालना स्वधर्म । पालनेसे दूर होते श्रम ।
तथा उचित देता परम- । पुरुषार्थ राज ॥ ४९ ॥

यह कारण है अर्जुन । स्वधर्मका ही आचरण ।
संकट समयमें स्मरण । सिद्ध मंत्रका जैसे ॥ ९५० ॥

या नांव जैसे समुद्रमें । दिव्यौषधि महारोगमें ।
तथा स्वधर्म जगतमें । नहीं भूलना ॥ ५१ ॥

फिर करना कपिध्वजा । स्वकर्मसे ही महापूजा ।
तुष्ट हो ईश तम रज । करेगा दूर ॥ ५२ ॥

शुद्ध सत्वकी है बाट । तथा अपनी उत्कंठा ।
भव स्वर्ग कालकूट । दिखाती ऐसे ॥ ५३ ॥

जिस वैराग्यके कहे लक्षण । यही पहले संसिद्धि लक्षण ।
वहां पहुंचना है विलक्षण । जिस स्थान पर ॥ ५४ ॥

इस भूमिकाको प्राप्त कर । साधक वैसे होता है फिर ।
सर्वत्र क्या पाना धनुर्धर । कहता हूं अब ॥ ५५ ॥

निर्मल स्नेह पक्व-फलकी भांति अलिप्त होता है—

देहादिक है संसारमें । तन ही पड़ा है फंदेमें ।
फंस भी न आता जालमें । वायू जैसे ॥ ५६ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

जैसे आता है पक्वताका काल । न डांड फल या फल डंटल ।
न धरता वैसे स्नेह निर्मल । होता है सर्वत्र ॥ ५७ ॥

पुत्र संपदा कलत्र । इससे होता स्वतंत्र ।
मेरा न कहता पात्र । विषका जैसे ॥ ५८ ॥

रहने दे यह विषय-मात्रसे । बुद्धि मुडती है पीछे चली जैसे ।
पीछे लौटकर एकांतमें ऐसे । रहती है हृदयमें ॥ ५९ ॥

ऐसे है उसका अंतःकरण । बाहर आनेसे डरता जान ।
राजाकी सौगंधसे लेके प्रण । न आती दासी जैसे ॥ १६० ॥

इस प्रकार जो चित्त । एकाग्र करके पार्थ ।
आत्म-चिंतनमें नित । लगाता है ॥ ६१ ॥

दृष्टादृष्ट कामना तब । जैसे नष्ट हो जाती हैं सब ।
आग राखमें दबती तब । धुंवा नहीं आता ॥ ६२ ॥

मन होता ऐसा अंतर्मुख । इच्छाएं नष्ट होती हैं देख ।
तब प्राप्त करता साधक । भूमिका ऐसी ॥ ६३ ॥

अनासक्त कर्मयोगीकी संन्यस्त अवस्था—

विपरीत ज्ञान संपूर्ण । नष्ट हो करके अर्जुन ।
ज्ञानमें ही अंतःकरण । होता है स्थिर ॥ ६४ ॥

संचित जैसे व्ययसे चुकता । वैसे प्राचीन भोगसे मिटता ।
नया क्रियमाण नहीं होता । किसी कर्मसे ॥ ६५ ॥

ऐसी जो कर्म-समय दशा । वहां बनती है वीरेशा ।
फिर श्रीगुरु आप ऐसा । मिल जाता है ॥ ६६ ॥

न कहीं रख आसक्ति जीतके मन निःस्पृह ।
नैष्कर्मकी महासिद्धि पाता संन्यास साधके ॥ ४९ ॥

रातके जो चार प्रहर । होते ही मिटाके अंधार ।
आंखोंको दीखता भास्कर । उसी भांति ॥ ६७ ॥

अथवा आकर फलकी धौंद । करता केलेका बढ़ना बंद ।
श्रीगुरु मिल साधकको छंद । जगाते हैं मोक्षका ॥ ६८ ॥
चंद्र जो पूर्णिमासे आलिंगित । तजता जैसे सभी व्यंग पार्थ ।
वैसे उसको मिलती सतत । श्रीगुरुकी कृपा ॥ ६९ ॥

अज्ञान मात्र तब जो रहता । उस कृपासे है सभी मिटता ।
रजनी सहित है जैसे जाता । अंधार सारा ॥ ९७० ॥

अज्ञानके गर्भमें जैसे । कर्म कर्ता औ' कार्य ऐसे ।
यह त्रिपुटी रहनेसे । गर्भिणी ही मरी ॥ ७१ ॥

ऐसे अज्ञान नाशके साथ । नष्ट होते हैं सभी क्रिया जात ।
ऐसे समूल संभव पार्थ । होता संन्यास ॥ ७२ ॥

मूल अज्ञान संन्याससे ऐसे । दृश्यका स्थान ही मिट जानेसे ।
वहां जानना रहता है ऐसे । आत्मतत्व ॥ ७३ ॥

जगने पर जैसे अर्जुन । डूबे थे ऐसे स्थान ।
करना पड़ता क्या गमन । बचानेको ॥ ७४ ॥

जो न मैं जानता वह जानूंगा । ऐसा दुष्ट स्वप्न जब मिटेगा ।
ज्ञाता ज्ञान विरहित जो होगा । चिदाकाश केवल ॥ ७५ ॥

सुखाभास सह वह दर्पण । दूर करनेसे अर्जुन ।
रहता देखनेके बिन । देखनेवाला जो ॥ ७६ ॥

वैसे न जानना जो गया । साथ जानना भी ले गया ।
फिर निष्क्रिय रह गया । चिन्मात्रा ही ॥ ७७ ॥

स्वभावसे वहां धनंजया । न रही किसी भांतिकी क्रिया ।
इसीलिये वह कहां गया । नैष्कर्म्य ऐसा ॥ ७८ ॥

होता है जब वायुका लोप । उससे होता तरंग लोप ।
तब जैसे रहता है आप । समुद्र मात्र ॥ ७९ ॥

ऐसे होना जब नहीं घड़ता । वह नैष्कर्म्य सिद्धि है कहाता ।
सभी सिद्धियोंमें यह जो होता । परम श्रेष्ठ ॥ ९८० ॥

मंदिरके कार्यमें कलश । गंगाकी सीमा सिंधु-प्रवेश ।
वैसे सुवर्ण-सिद्धिमें कस । सोलहवा अंतिम ॥ ८१ ॥

ऐसे अपना अज्ञान । मिटा देता जो वह ज्ञान ।
वह भी निगल अर्जुन । रहनेकी दशा ॥ ८२ ॥

इसके पर कुछ नहीं । पाना ऐसे रहता नहीं ।
इसीलिये कहना यही । परम-सिद्धि ॥ ८३ ॥

किंतु यही जो आत्म-सिद्धि । जैसे है कोई भाग्य-निधि ।
श्रीगुरुकृपा-उपलब्धि । होती तब मिलती ॥ ८४ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौंतेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

ब्रह्मत्व-सिद्धिका विवेचन—

उदय होते ही दिनकर । प्रकाश ही होता है अंधार ।
अथवा दीप सह कर्पूर । होता है दीप ॥ ८५ ॥

अथवा लवण-कणिका । मिलकर जैसे उदका ।
होती है आप भी उदक । उसी प्रकार ॥ ८६ ॥

या निद्रित होता है जागृत । स्वप्न सह नींद होती व्यर्थ ।
तथा अपना रूप जागृत । पाना जैसे ॥ ८७ ॥

जिस किसीके सुदैवसे । श्रीगुरु-वाक्य श्रवणसे ।
द्वैत निगल स्थिरतासे । रहता स्ववृत्तिमें ॥ ८८ ॥

श्रवण वचनका मिलन । होते ही जैसे सुन अर्जुन ।
स्वयं-स्वरूप हो जाना मान । अपने आपमें ॥ ८९ ॥

---

१ मिला है सिद्धिमें ब्रह्म कैसे किस प्रकारसे ।
ज्ञानकी श्रेष्ठ जो निष्ठा अल्पमें कहता सुन ॥ ५० ॥

उसको फिर कुछ करना । रहता क्या कह अर्जुन ।
आकाशको आना तथा जाना । रहता है क्या ॥ ९९० ॥

इसीलिये उसको कहीं । त्रिशुद्धि करना है नहीं ।
न हुवा ऐसे कुछ कहीं । उसके लिये ॥ ९१ ॥

उन्हे स्व-कर्मकी अग्निमें । काम्य निषेध ईंधनमें ।
रज तमको जलानेमें । करना प्रारंभ ॥ ९२ ॥

पुत्र वित्त तथा परलोक । इन तीनोंका जो अभिलाष ।
हुवा जैसे अपना सेवक । ऐसे होगा ॥ ९३ ॥

स्वैर इंद्रियोंमें सर्व-स्पर्शसे । आई हुई जिस मलिनतासे ।
मुक्त करनेमें प्रत्याहारसे । किया जाता स्नान ॥ ९४ ॥

तथा स्वधर्मका जो फल । ईश्वरार्पण करके बल ।
लेकर किया है गरल । वैषम्यका वह ॥ ९५ ॥

आत्म-साक्षात्कारमें ऐसे । ज्ञानका उत्कर्ष हो कैसे ।
इसकी सामग्री जो ऐसे । पाता है वह ॥ ९६ ॥

तथा है ऐसे ही समय । सद्गुरु मिले धनंजय ।
उसने ज्ञान-दान कार्य । सही किया तो भी ॥ ९७ ॥

वैराग्यका लाभ और श्रीगुरुके लोभसे अनुभाव-अंकुर फूटता है

औषध लेते ही तत्क्षण । रोगमें आयेगा क्या गुण ।
या सूर्योदयसे तत्क्षण । मध्यान्ह होगा क्या ॥ ९८ ॥

सुक्षेत्र तथा है जो तर । बोया बीज गला सुंदर ।
किंतु फल आनेमें देर । लगेगा ही ॥ ९९ ॥

चले मार्ग पर जो सरल । वहां मिला सत्संगका मेल ।
पहुंचने तक कुछ काल । लगेगा ही ॥ १००० ॥

ऐसे हुवा वैराग्यका लाभ । तथा मिला श्रीगुरुका लोभ ।
अंतःकरणमें फूटा कोंब । विवेकका ॥ १ ॥

वह ब्रह्म ही एक सत । दूसरा संपूर्ण है भ्रांत ।
इसको जिसने प्रतीत । किया है दृढ ॥ २ ॥
किंतु वह जो परब्रह्म । सर्वात्मक है सर्वोत्तम ।
जिससे मोक्षका भी काम । रहता नहीं ॥ ३ ॥
अपनेमें ही यह जो ज्ञान । पचाता तीनो अवस्था जान ।
उस ज्ञानका भी आलिंगन । करती जो वस्तु ॥ ४ ॥
ऐक्यकी एकता होती समाप्त । आनंद कण भी होता है लुप्त ।
कुछ न करके रहता नित । जो है कुछ ॥ ५ ॥
उस ब्रह्ममें ही लय होकर । रहना है ब्रह्म ही बनकर ।
क्रमसे उसको भी प्राप्त कर । लिया है तब ॥ ६ ॥
जैसे है कोई बुभुक्षित । करता षड्रसान्न प्राप्त ।
तब प्रति ग्राससे तृप्त । होता है वैसे ॥ ७ ॥
मिला वैराग्य-स्नेहका भरण । विवेक दीप कर प्रज्वलन ।
उसमेंसे आत्म-तत्व निधान । पा लेना है ॥ ८ ॥
भोगना है आत्म-ऋद्धि । इतनी योग्यता सिद्धि ।
जिसने है निरवधि । पायी भूषण रूप ॥ ९ ॥
जिस क्रमसे वह ब्रह्म । होता जाता यह सुगम ।
उस क्रमका अब मर्म । कहता हूं सुन ॥ १०१० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

द्वंद्व चिंता छोड कर स्व-चिंतन करना शुद्ध-बुद्धि है—

श्रीगुरुके दिखाये मार्ग पर । चारु विवेक-तीर्थ तटपर ।
साधक बुद्धिका मल धोकर । तदुपरांत ॥ ११ ॥

जुडाके सात्विकी बुद्धि धृतिकी डोर खींचके ।
तजके शब्द स्पर्शादि जीतके राग-द्वेषको ॥ ५१ ॥